अर्हम्

पुरुषार्थदिग्दर्शन ।

मुक्तिमार्गप्रणेतारं धर्मदर्शनतत्परम् ।
प्रणम्य श्रीमहावीरं वृद्धिचन्द्रं गुरुं पुनः ॥ १ ॥

पुरुषार्थस्वरूपं यल्लोकानामुपकारकम् ।
तद्वक्ष्ये पुरुषार्थानां दिग्दर्शनमहं लघु ॥ २ ॥

यह बात सबपर विदित है कि-समस्त दर्शनकारों ने धर्म, अर्थ, काम, तथा मोक्ष, इन चार प्रकार के पुरुषार्थों को किसी न किसी प्रकारसे स्वीकार किया ही है। और शास्त्रों में लिखा भी है कि—

"अर्थः कामश्च मोक्षश्च प्रवर्त्तन्ते यतस्त्रयः ।
स श्रीधर्मः कथं न स्यात् करणीयः सतां नृणाम् ?" ॥ १ ॥

अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष, इन चार पुरुषार्थों का समस्त आस्तिक नरों ने विना संशय स्वीकार किया है। पुरुषार्थ के इन भेदों के अनुसार इस जगत् में छः प्रकार के पुरुष कहे जाते हैं। यद्यपि पुरुषाकार में भेद नहीं है, अर्थात् कान, नाक, आँख, मुँह, हाथ, पाँव वगैरह में समानता देख पड़ती है तथापि गुणों को लेकर गुणी का भी भेद हो सकता है। अब उन छः प्रकार के पुरुषों

के नाम में दिखलाता हूँ–१ अधमाधम २ अधम ३ विमध्यम ४ मध्यम ५ उत्तम और ६ उत्तमोत्तम । इन छः प्रकार के पुरुषों के लक्षण 'तत्वार्थवृत्ति' तथा 'षट्पुरुष चरित्र' इत्यादि ग्रन्थों में बहुत विस्तार से दिखलाये हुए हैं; किन्तु मैं यहाँपर बहुत संक्षेप से सरलभाषा में आपलोगों को बतलाना चाहता हूँ ।

पहिले 'अधमाधम' के स्वरूप को देखिये । जिनको पूर्वोक्त चारों पुरुषार्थों का ज्ञान नहीं है और धर्म, कर्म संज्ञा को भी नहीं जानते हैं, जङ्गलों में अपनी आयु को बिताते हैं, शीत, ताप और वातादि से उत्पन्न हुए कष्टों को सहन करते हैं, जिनके हृदय में परलोक का विचार भी नहीं होता है, पहिरने को वस्त्र भी नहीं मिलता है, वृक्षों की छालों को शरीरपर लपेट लेते हैं, शिर के बालों को बांधने के लिये सूत का एक धागा भी जिनके पास नहीं रहता है, लताओं के तन्तुओं से अपने केशों को बांधते हैं, जिनको रहनेका घर भी नहीं है और गिरिगह्वरों में वास करते हैं, इस प्रकार की अवस्थावाले मनुष्य (जिस महाशय ने न देखे हों वे कलकत्ते के चिड़ियाघर में जाकर देखलें) अधमाधम कहे जाते हैं । अब अधम पुरुषों की स्थिति दिखलाई जाती है—

जो लोग परलोक को नहीं मानते हैं, धर्मिष्ठ पुरुषों की हँसी किया करते हैं, मद्य, मांस का भक्षण करने में जन्म को कृतार्थ मानते हैं, दूसरे के दुःख को न देखकर अपनेही सुख में आसक्त रहते हैं, चार पुरुषार्थों में से अर्थ और काम को ही सम्पूर्णतया मान्य करते हैं, धर्म

तथा मोक्ष को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं, वैसे भिल्ल, पुलिन्द, नाहल और बब्बर आदि लोग अधम गिने जाते हैं। इन के अतिरिक्त उच्चगोत्रादिक को प्राप्त करने पर भी जो आत्मा, पुण्य, पाप, नरक, स्वर्ग कुछ भी नहीं मानता है वैसे चार्वाकसदृश नास्तिक लोग भी अधर्मियोंकी पङ्क्ति में गिनेजाते हैं। वर्तमान समय में एक दर्शन के अनुयायी जो दूसरे दर्शन के अनुयायी को नास्तिक कहते हैं, उनकी गणना इसमें नहीं हो सकती; क्योंकि इसरीति से तो दुनियाँ में एक दूसरे की अपेक्षा से कोई भी आस्तिक नहीं ठहरेगा, और तब तो सभी कोई अधम ही बनजायँगे। प्रसंगवश मुझे कहना पड़ता है कि-जैसे वेदधर्म को मानने वालों ने लिखमारा है कि "नास्तिको वेदनिन्दकः" इस वाक्य पर अगर बुद्धिमान् विचार करें तो हृदयादर्श में अवश्य ही ऐसा प्रतिभास होगा कि यह वाक्य अपने बचाव के लिये ही रखा है। अगर इसीतरह हमलोग भी अपने मत की निन्दा करने वालों को नास्तिक ठहराने के लिये "नास्तिको जैननिन्दकः" ऐसा वाक्य बनायें तो हमें कोई रोक थोड़े सकता है? किन्तु नहीं! ऐसे दंडा-दंडी युद्धको हमलोग नहीं पसंद करते हैं। सज्जनो! वेदानुयायी हो या जैनानुयायी हो, किन्तु "नास्तिको नास्तिवादकः" इस वाक्य से चार्वाकसदृश लोग ही नास्तिक ठहर सकते हैं, किन्तु जो लोग आत्मा, पुण्य, पाप, स्वर्ग, मोक्षादि वस्तुओंको मानते हैं, वे किस तरह नास्तिक हो सकते हैं? हाँ! यह मत अमुक मत से भिन्न है, यह अमुक से भिन्न है, ऐसा मानने में तो

किसी प्रकार का विरोध नहीं समझा जाता है। इतना समयोचित कहकर अब मैं प्रस्तुत अधमों की अधमता का प्रकाश करने का प्रयत्न करता हूँ—

मैं पहिलेही कह चुका हूँ कि अधम लोग अर्थ और काम इन्हीं दो पुरुषार्थों को मानते हैं। अब यहाँ पर अधम पुरुषों को प्रश्न पूछने का अवसर मिलता है कि-अर्थ और काम मिले कहाँ से? वे लोग उसका जो कारण बतायेंगे उसीको हमलोग धर्म संज्ञा से सिद्ध करेंगे। जब धर्म सिद्ध होगा तब समस्त वस्तु का समुदाय भी स्वतःसिद्ध दृष्टि में आवेगा। इसी तरह युक्ति और उपदेश मिलने पर भी जो लोग नास्तिकता नहीं छोड़ते हैं उन्हींको अधमपुरुष कहते हैं। अब विमध्यम पुरुष के लक्षणों को दिखलाने का प्रयत्न करता हूँ—

जो लोग धर्म, अर्थ तथा काम की आराधना सांसारिक सुखों के लिये करते है, मोक्ष की निन्दा और स्तुति नहीं करते हैं, अन्य के विषय में जैसे नारिकेलद्वीप के मनुष्य मध्यस्थभाव रखते हैं उसी तरह विमध्यम पुरुष मोक्ष के विषय में अभिलाष अनभिलाष नहीं करते हैं केवल इस लोक में ऋद्धिसमृद्धिवाले पुरुषों को देखकर साधन में तत्पर होते हैं, और मनमें ऐसा चाहते हैं कि हम दान, शील, तप तथा भाव करके भवान्तर में पुत्र-परिवार एवं धन-धान्यादि समृद्धि वाले बनें। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-ये चार वर्ण विमध्यम पुरुषों में गिने जाते हैं। अब मध्यम पुरुषों की व्याख्या देखिये—

मध्यमपुरुष धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को मानते हैं, किन्तु मोक्ष को तो परमतत्व समझते हैं। मोक्ष ही जिनके लिये उपादेय है, किन्तु हीनसत्व और कालानुसार मोह ममत्वभाव को नहीं छोड़ सकने के कारण धर्म, अर्थ और काम तीनों ही वर्ग की आराधना को यथासमय परस्पर अविरुद्ध रीति से करते हैं। मुनिवरों के भक्त और साधुमार्ग के पोषक होकर दान, शील, तप तथा भाव और परोपकारादि सुन्दर गुणगणों से विभूषित, सम्यक्त्व मूल द्वादशव्रत को निरतिचार रीति से पालन करनेवाले गृहस्थलोग मध्यम पुरुष कहे जाते हैं। अब उत्तमपुरुषों की उत्तमता पाठकों को श्रवणकराने का समय आया है। पाठक लोग इसे ध्यान देकर सुनें।

उत्तम पुरुष चार वर्गों में से मोक्ष को परमतत्व मानते हैं और उसके साथ मोक्ष की ही आराधना करते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, मत्सर, रति, अरति, शोक, भय, घृणा आदि दुर्गुणों को छोड़कर सद्गुणों के व्यापार में चित्त लगाकर, धन, धान्य, माल, खजाना, पुत्र, परिवार को तुच्छ समझकर, वैराग्यवासना से वासितान्तःकरण होकर, शमसाम्राज्य के भवनरूप चारित्रधर्म का सेवन करते हैं। शत्रु, मित्र, निन्दक पूजक, मणि, काञ्चन, सज्जन, दुर्जन, निन्दा, स्तुति, मान, अपमान, सुन्दर, असुन्दर, इत्यादि सभी वस्तुओं को समानभाव से देखते हैं, समस्त जीवों को हितभरे उपदेश देते हैं; कदापि ऐसा कार्य नहीं करते जिससे किसी जीव को उनसे द्वेष हो जाय, काञ्चनकामिनी से

सर्वथा दूर रहते हैं, गृहस्थों के संबन्ध से विरक्त, अनारम्भी, सत्यवादी, अस्तेयी, ब्रह्मचारी, निष्परिग्रही, जो धर्मोपदेशक गुरु होते हैं वेही उत्तमपुरुषोंकी पङ्क्तिमें गिने जाते हैं।

यहाँपर मुझे कहना चाहिये कि ये उक्तगुणों से भी अधिक गुणपरम्परावाले होते हैं, केवल पेटपूजा करनेवाले और वृथा आडम्बरी नहीं होते हैं-

यतः—

" महाव्रतधरा धीरा भैक्ष्यमात्रोपजीविनः ।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः" ॥१॥

भावार्थ—पञ्चमहाव्रत को धारण करनेवाले अत एव धीर, और भिक्षावृत्ति से जीनेवाले, सामायिक में तत्पर धर्मोपदेशक गुरु माने जाते हैं, उनसे विपरीत अगुरु कहे जाते हैं। कहा भी है कि—

" सर्वाभिलाषिणः सर्वभोजिनः सपरिग्रहाः ।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु " ॥२॥

भावार्थ—सब वस्तुओं की अभिलाषा करनेवाले, और सब चीज़ों का भक्षण करनेवाले, धन धान्य चाँदि, सोने आदि के परिग्रहसे युक्त, अब्रह्मचारी और मिथ्या-उपदेश देनेवाले अगुरु कहे जाते हैं। अगुरु लोग रंगीन वस्त्रों को धारण कर जगत् को ठगते हैं। वैसे ठग लोगों के फन्दे में भव्यजीवों को न आना चाहिए। ये ठगलोग उत्तमों की पङ्क्ति में तो क्या, विमध्यमों की गिनती में भी नहीं गिने जाते हैं; बल्कि मैं कह सकताहूं कि उन

लोगों को अधर्मों की पङ्क्ति में रखने में भी कोई हानि नहीं देख पड़ती है। इस दुनियाँ के आधारभूत उत्तम-पङ्क्तिवाले मुनिरत्न ही हैं ये लोग उपदेश से तारें, या दर्शन देकर तारें, चाहे धर्मलाभरूप आशिष देकर तारें, लेकिन संसारसमुद्र से तारनेवाले तो वेही सुगुरु हैं जिन की व्याख्या मैं पहिले ही करचुका हूं। क्योंकि जिसमें स्वयं पार होने की शक्ति है, वही दूसरे को भी पार उतार सकता है। जिसकी आपही शक्ति नहीं है वह यदि दूसरेको पार उतारने का साहस करे तो उन दोनों ही आदमियोंके डूब जानेमें कोई संशय नहीं रहेगा।

सज्जनो! पूर्वोक्त बात, मैं अपने जी से कहता हूं ऐसा मत समझिये, क्योंकि शास्त्रकार भी कहते हैं कि-

" परिग्रहारम्भमग्नास्तारयेयुः कथं परान्?।
स्वयं दरिद्रो न परमीश्वरीकर्तुमीश्वरः " ॥ १ ॥

भावार्थ—परिग्रह आरम्भ में डूबा हुआ पुरुष दूसरे को तारने में कैसे समर्थ होगा? जो स्वयं दरिद्री है वह पुरुष दूसरेको धनवान् करने में समर्थ नहीं होता है। एक बात अनुभव से सिद्ध होती है कि-जो मनुष्य साधु-गुणसम्पन्न है वह विना उपदेश दिये दर्शनमात्र से ही क्लेश से तप्तपुरुष को शान्त कर देता है। अगर उस पुरुष का उपदेश मिले तो इतना बड़ा लाभ होता है कि जिसकी सीमा नहीं। यहाँ पर एक प्रश्न हो सकता है कि-" जो साधुगुणयुक्त व्यक्ति उपदेशामृत का पान कराता है तथापि कितने ही जीवों को गुण नहीं होता है, अत एव पूर्वोक्तकथनानुसार यह महात्मा (उत्तमपुरुष)

नहीं होसकता है, क्योंकि कितने ही जीवों को उससे लाभ नहीं पहुंचा " इसके उत्तर में समझना चाहिए कि बढ़ई सुशिक्षित है, कुल्हाड़ी बहुत तीक्ष्ण है, परन्तु काष्ठ में एक गांठ बड़ी भारी मजबूत लगी हुई है, अतः काष्ठ नहीं कटता है तो यहाँ पर बढ़ई और शस्त्र का दोष नहीं है। इसी तरह जो जीव कठोर होता है उसको अगर उपदेश न लगे तो उपदेशक का और उपदेश का दोष, ऐसा कभी नहीं समझना चाहिए। सिंहिनी का दूध सुवर्ण के ही पात्र में रहता है। योग्यायोग्यपुरुषों का विचार शास्त्रों में स्पष्ट लिखा हुआ है और इसी कारण से पुरुषों के छः विभाग किये गये हैं। अब मैं प्रस्तुत विषय की ओर झुकता हूँ और पाँचवें उत्तमपुरुषों की व्याख्या दिखलाता हूँ। पूर्णमग्न, अमोही, ज्ञानी, ध्यानी, शान्त, जितेन्द्रिय, त्यागी, वैरागी, क्रिया में तत्पर, निर्लेप, निःस्पृही, विद्यावान, विवेकवान्, मध्यस्थ, भयरहित, अनात्मसंशक,तत्त्वदृष्टि, सर्वसमृद्धिवान्, कर्मफलचिन्तक, भयोद्विग्न, अतिथि, लौकिकव्यवहारपराङ्मुख, मोक्षाभिलाषी, अनगार, मुनि, मुमुक्षु, भिक्षु और वाचंयम इत्यादि विशेषणों से विशिष्टपुरुष को उत्तमपुरुष कहते हैं। इतना कहकर अब मैं उत्तमोत्तमों की व्याख्या करनी आरम्भ करता हूँ।

पूर्वोक्त उत्तमपुरुषों का ध्येय, पूज्य, माननीय, वन्दनीय, स्तवनीय, ईश्वरपदवाच्य, सर्वथा रागद्वेषरहित, केवलज्ञान से लोकालोक के स्वभाव का प्रकाशक, प्रमाणयुक्त वचनवर्गणा का उपयोग करनेवाला, स्याद्वादशैलीयुक्त उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इन, तीनों पदोंका ज्ञान

गणधरों को देनेवाला, निर्विकार, निराबाध, परस्पर-विरोधादि दोषरहित, आगमों का अधिपति, शासननायक, शिवसुखदायक, परम कृपालु, कल्पवृक्ष रत्नचिन्तामणि कामधेनु से भी अधिक दान देनेवाला, एवं दान लेनेवाले को मोक्ष के स्वाधीन करनेवाला ऐसा धर्मचक्रवर्त्ती तीर्थङ्कर उत्तमोत्तम पदालङ्कृत है। बस! यहां छः प्रकार के पुरुषों के स्वरूप का लेशमात्र स्वरूप मैंने पाठकों को दिखलाया है, अब इससे पाठकोंको विचारशील होकर जानना चाहिये कि-में किस पङ्क्ति में हूं? मेरे लक्षण कौन से पुरुष के हैं? विचार करने से यदि मालूम हो कि अद्यापि मैं नीच पङ्क्ति में हूं तो ऊंची श्रेणी में जाने का प्रयत्न करना चाहिये। अगर ऊंची कक्षापर हूं तो उच्चतर कक्षा की अभिलाषा करनी चाहिये। इतना विवेचन करके अब मैं पुरुषार्थ की व्याख्या पर आने का प्रयत्न करता हूं।

"पुरुषस्य अर्थः पुरुषार्थः" अर्थात् पुरुष का जो अर्थ उसको पुरुषार्थ कहते हैं। शास्त्रकारों ने इस पुरुषार्थ के चार विभाग माने हैं। १ धर्म २ अर्थ ३ काम और ४ मोक्ष। इन चार पुरुषार्थों में से प्रथम धर्म का सामान्य लक्षण कहना चाहिये। "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः" भावार्थः-जिससे समस्तप्रकार का उदय और मोक्ष की सिद्धि हो उसी का नाम धर्म है। अथवा—

"दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून् धारणाद्धर्म उच्यते।
संयमादिर्दशविधः सर्वज्ञोक्तो विमुक्तये" ॥ १ ॥

भावार्थ—दुर्गति में पड़ते हुए प्राणियों को धारण करने के कारण धर्म कहा जाता है। यह संयमादि दशप्रकार वाला एवं सर्वज्ञ का कहा हुआ धर्म मुक्ति के लिये समर्थ है। जैन, बौद्ध, साङ्ख्य, शैव, भागवत, पातञ्जलि तथा मनुप्रभृति समग्र दर्शन के अनुयायी लोगों ने क्षान्त्यादि दशप्रकारके धर्मों को स्वीकार किया है, केवल शब्द में भेद रक्खा है, अर्थ में अन्तर नहीं है। अगर अर्थान्तर है तो मुझे कहना पड़ेगा कि-स्वाभाविक वस्तुओं में फेरफार नहीं हो सकता है, क्योंकि संस्कृत प्राकृत भाषा सर्वत्र एक समान ही मिलेगी, यदि देशी प्राकृत देखी जाय तब फेरफार मालूम हो सकता है; कारण यह है कि यह देशकृत भेद है, और देशकृत भेद जो होता है वह कृत्रिम होता है। यहाँ पर मुझे एक दूसरा स्थूल दृष्टान्त याद आता है कि-भिन्न भिन्न देश के सौ मनुष्य इकट्ठे किये जायँ और उनलोगों को बैठाने के लिए अगर शब्द प्रयोग किये जायँ तो एक सौ शब्दों के प्रयोग भिन्न भिन्न भाषाओं में करने पड़ेंगे, ऐसा नहीं करके अगर उनको बैठाने के लिये दोनों हाथ लम्बे करके नीचे किये जायँ तो समस्त मनुष्य समझ जायँगे कि यह हमको बैठाने के लिये कह रहा है। इसी तरह चुप रहने के लिये शब्द के अलग अलग प्रयोग नहीं करके नाकपर तर्जनी अङ्गुली रखकर चुप करने की चेष्टा की जाय तो सब कोई चुप हो जायँगे। और भी देख लीजिये, अगर कोई पुरुष अपरिचित देश में गया हो, और उसको क्षुधा लगी हो, दाल रोटी का नाम — जानता हो, भिक्षा किन शब्दोंमें मांगनी चाहिये

यह भी उसको मालूम न हो, तब यह विचारा पाँचों अङ्गुलियों को इकट्ठी करके मुँह पर रखकर और पेट पर हाथ छोड़ के चेष्टा करेगा तब वैसाही मूर्ख क्यों न हो, यह भी समझ जायगा कि यह मनुष्य खाने के लिये मांग रहा है।

पूर्वोक्त दृष्टान्तों से पाठक अवश्यही समझ गये होंगे कि स्वाभाविक वस्तुएँ ज्योंकी त्यों ही रहती हैं, उनमें भेद नहीं पड़ता। अब में दशविध धर्मके लिए मनुजीका श्लोक यहां पर उद्धृत करता हूं:—

" धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् " ॥१॥

भावार्थ—(१) धृति अर्थात्-सन्तोष रखना (२) क्षमा अर्थात्-दूसरे के अपकार करने पर भी उसका भला करना (३) दम अर्थात्-विकारके कारणोंके मौजूद रहने पर भी विक्रियाको नहीं प्राप्त होना, अथवा शीत-ताप आदि परीषहोंसे भी क्लेश न मानने और सहन करनेको भी दम कहते हैं (४) अस्तेय अर्थात् अनुचित रीतिसे किसीकी कोई वस्तु हरण नहीं करना (५) शौच अर्थात्-अन्तःकरणको पवित्र रखना। कितनेही लोग जल मिट्टीसे शरीर शुद्ध करलेनेको ही शौच समझते हैं, किन्तु यह उनकी भूल है। शरीरकी शुद्धि को धर्म मानना, यह बुद्धिमानों के मनमें युक्तिपूर्वक ठीक नहीं जँचेगा; क्योंकि धर्म तो आत्मशुद्धि करनेवाला होता है। अगर शरीरशुद्धिको धर्म माना जाय तो अनार्यों में भी शौचधर्म प्राप्त होना चाहिये। अगर यह कहो कि-प्राप्त

होता है, तो फिर उन्हें अनार्य क्यों कहे जायं ? इत्यादि सूक्ष्म विचारोंसे यही प्रतीत होता है कि अन्तः-करणकी पवित्रता ही शौच है। (६) इन्द्रियनिग्रह अर्थात्-पञ्चेन्द्रियों के २३ विषयोंमें रागद्वेष रहित होकर व्यवहार करना। अब यहाँ पर जानना चाहिये कि-इन्द्रियां अपनी स्वाभाविक चपलता के कारण अपने २ विषयों पर अवश्य गमन करती हैं। वे अगर क्षणभर के लिए हठयोगद्वारा रोकी जायँ तो उसे वास्तविक निग्रह नहीं कह सकते। वास्तविक निग्रह तो ज्ञानपूर्वक विषयोंमें अभाव होना ही है। जब तक शरीर है तब तक उसका इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध है। रास्तेमें चलते हुए महात्माकी इन्द्रियाँ भी अपने २ विषयोंकी ओर जाती हैं, किन्तु महात्माके अन्तःकरण में विषयों पर राग द्वेष का अभाव होने से वाञ्छा नहीं है। इसलिये इसको इन्द्रियनिग्रह कहने में किसीको आपत्ति नहीं हो सकती। (७) धी अर्थात् शास्त्र, स्वानुभव और सम्प्रदायमें तत्त्वका चिन्तन करना (८) विद्या अथवा आत्मज्ञान अर्थात् मैं ज्ञानमय, दर्शनमय, चारित्रमय, अच्छेदी, अभेदी, अनाहारी, अतीन्द्रिय, अकषायी, शुद्ध, बुद्ध, अकलंकादि अनेक विशेषणों से युक्त हूँ ऐसा ज्ञान होना। (९) सत्य अर्थात् जो बात हो उसे पूछे जानेपर जैसी की तैसी बतलाना। (१०) अक्रोध-अर्थात् क्रोधका कारण प्राप्त होने पर भी ज्ञानदृष्टिपूर्वक क्रोध नहीं करना। इस प्रकार मनुस्मृतिके छठें अध्यायके अन्तमें धर्मके दशविध स्वरूप दिखलाये हुए हैं। प्रथम ब्राह्मणोंका सामान्य धर्म कहा है, तदनन्तर इन दश प्रकारके धर्मोंको पढनेका अनुरोध किया गया

है इसके बाद अनुष्ठित करनेके लिये शिक्षाएँ लिखी गयी हैं। उन शिक्षाओंके अन्तमें संन्यास लेनेका उपदेश किया है, क्योंकि विना संन्यास ग्रहण किये पूर्वोक्त दश प्रकारके धर्म गृहस्थोंसे पालन नहीं हो सकते हैं। उसी तरह जैनतत्त्ववेत्ताओंने भी दश प्रकारका यतिधर्म दिखलाया है। जैसे—

" खन्ति मद्दव अज्जव मुत्ति तव संजमे अ बोधव्वे।
सच्चं सोअं अकिंचणं च बंभं च जइधम्मो " ॥१॥

भावार्थ—(१) क्षान्ति अर्थात् क्रोधका अभाव (२) मार्दव अर्थात् मानका अभाव (३) आर्जव अर्थात् दम्भका त्याग (४) मुक्ति अर्थात् लोभका अभाव (५) तप अर्थात् इच्छाओंकी रोक (६) संयम अर्थात् इन्द्रियोंका निग्रह (७) सत्य अर्थात् यथास्थित वस्तु का कथन (८) शौच अर्थात् सब जीवोंके साथ अनुकूल व्यवहार करना जिसमें किसीका अपकार न हो अत एव अन्तःकरण की पवित्रता (९) अकिञ्चन अर्थात् सब प्रकारके परिग्रहोंका त्याग और (१०) ब्रह्मचर्य अर्थात् सर्वथा अब्रह्मका त्याग करना। इसी तरहसे प्रत्येक दर्शनवालोंने दश प्रकारका धर्म माना है। कर्तव्यभेदसे धर्मका भेद होता है। कारणोंमें कार्योपचार करके भेद गिने जाते हैं। जैसे, श्रुतधर्म और चारित्रधर्म; अर्थात् जो धर्म श्रुतसे बने वह श्रुत और जो चारित्रसे बने वह चारित्रधर्म कहा जाता है। उसी प्रकार साधु धर्म और गृहस्थधर्म। साधु से जो धर्म बने वह साधुधर्म और गृहस्थों से जो धर्म बने वह गृहस्थ धर्म कहा जाता है

वैसेही निश्चय धर्म और व्यवहारिक धर्म। अर्थात्, निश्चयनयानुसार जिन वस्तुओं की पहिचानसे आत्मगुणका लाभ हो वह निश्चयधर्म और व्यावहारिक धर्मकृत्योंसे उत्पन्न हुआ पुण्यबन्धरूप धर्म व्यावहारिक धर्म कहा जाता है। वैसेही दान, शील, तप और भावके अनुसार धर्मके चार भेद हुए-१ दानधर्म २ शीलधर्म ३ तपोधर्म और ४ भावधर्म। दानधर्म पाँच प्रकारका होता है, जैसे, अभयदान, सुपात्रदान, उचितदान, कीर्तिदान, अनुकम्पादान। ब्रह्मचर्यके १८ सामान्य और १८ हजार विस्तार भेद हैं। उन्हें पालन करनेसे जो धर्म होता है वही शीलधर्म कहा जाता है। तपके दो भेद कहे हैं-बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्यके छः और आभ्यन्तरके छः कुल मिलाकर तपके १२ भेद हैं। इन बारहों प्रकारके भेदोंसे युक्त तप करनेसे जो धर्म होता है वह तपोधर्म कहा जाता है। भावना पाँच प्रकारकी है। उन पाँचो प्रकारकी भावनाओंके करनेसे जो धर्म होता है वह भावधर्म कहा जाता है। ऐसे अनेक प्रकारके धर्मके भेद जीवोंको समझानेके लिये शास्त्रकारोंने उपकारबुद्धिसे दिखलाये हैं। यहाँ उनका विस्ताररूपसे विवेचन करना अनावश्यक समझकर अब मैं धर्म की परीक्षा करनेके चार कारणोंको बतलाता हूँ। शास्त्रमें कहा हैः—

"यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदन-ताप-ताडनैः।
तथैव धर्मो विदुषा परीक्ष्यते श्रुतेन शीलेन तपो-दयागुणैः"॥१॥

भावार्थ—जैसे चतुर लोग सुवर्णकी परीक्षा कसौटीके ऊपर घिस कर, छेदकर, तपाकर और हथौड़ीसे

कूटकर करते हैं, वैसेही पण्डित लोग धर्मको परीक्षा भी चार प्रकारसे करते हैं। पहले, शास्त्रसे अर्थात् अमुक शास्त्र परस्परविरुद्धादिदोषग्रस्त है कि नहीं इसका विवेचन करके यदि दोषरहित हो तो मानना और न हो तो नहीं मानना चाहिये। दूसरे, शीलसे अर्थात् ब्रह्मचर्य किसे कहते हैं? उसको पालन करनेका क्या फल है? किस हेतुसे ब्रह्मचर्यका अवलम्बन किया जाता है? इन बातोंकी सूक्ष्मरूपसे गवेषणा करके अगर बराबर मालूम हो जाय तो जानना कि यह धर्म ठीक है। तीसरे तपोगुण देखना अर्थात् तपश्चर्या का क्या हेतु है? तप किसे कहते हैं? उससे क्या कार्य होता है' इत्यादि का विचार स्वयं करना और जिसमें प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पाँचो अवयवोंसे युक्त तपोगुण सिद्ध हो उसमें धर्म समझना चाहिये। अन्तमें परीक्षाका चौथा कारण दयागुण है। जिसमें प्राणिमात्र की दया है वही धर्म है और जिसमें प्राणिमात्रकी दया नहीं है उसे धर्म नहीं कहते। एकांशमें दयाकरनेवाला दयावान् नहीं कहा जा सकता किन्तु मोहवान् कहलाता है। ये मोह ४ प्रकारके हैं— शास्त्रमोह, सम्बन्धमोह, आत्मीयमोह और ममत्वभावका मोह। जैसे हिन्दूशास्त्रोंमें गौ को बड़ी प्रतिष्ठा दी गयी है इससे हिन्दूमात्र गौकी रक्षा करते हैं इसका कारण शास्त्रमोह है। वैसेही मुसल्मानोंके शास्त्रमें सूकर को नहीं मारनेकी आज्ञा है, अत एव मुसलमान सूकरको हराम समझते हैं। यह भी शास्त्रमोहसेही है। अब सम्बन्धमोहको लीजिये। सिंहनी जो अपने बच्चेका पालन करती

है वह मम्बन्धमोह है। यदि कोई मनुष्य कुत्ते, बकरी या औरही किसी पशुको प्रेमभावसे अपना समझ कर उसकी रक्षा करता है तो उसे आत्मीयमोह कहते हैं और क्रीडा के लिये जो जीव पाले जाते हैं उसे ममत्वमोह कहा जाता है। किन्तु वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो समस्त जीवोंकी निःस्वार्थ मैत्री-भावसे रक्षा करनाही दया कहलाती है और वह दयागुण जिसमें हो उसे ही धर्म जानना चाहिये।

पूर्वोक्तरीतिसे धर्मकी परीक्षा करनेके साथही साथ धर्मकी आराधना करनेकाभी मैं आपलोगोंसे सविशेष अनुरोध करता हुआ 'अर्थ' नामक दूसरे पुरुषार्थ की मीमांसा करनेको अवसर होता हूं। शास्त्रोंमें कहा है, "यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः।" अर्थात् जिससे समस्त प्रयोजनोंकी सिद्धि हो उसे अर्थ कहते हैं। अर्थ धार्मिक पुरुषोंको पुण्यकर्मके फलस्वरूप यावत् मोक्षसुखका देनेवाला है, विषयी जनोंके समस्त विषयोंकी प्राप्तिका कारण है, लोभियों के लोभविषयका मूल कारण है, राजाओंका श्रीवृद्धिका मुख्य हेतु है, व्यापारी लोगोंकी व्यापार-वृद्धिका सहायभूत है और वेश्यादिकोंको कुकर्ममें लेजानेवाला है। कहनेका तात्पर्य यह है कि-हेमचन्द्राचार्यका बतलाया 'सर्वप्रयोजनसिद्धिरूप' अर्थका लक्षण सान्वर्थही है इसमें कोई संशय नहीं।

अर्थ दो प्रकारका होता है, पहला न्यायसम्पन्न और दूसरा अन्यायसम्पन्न। न्यायसम्पन्न उभयलोकमें हितकारी होता है और अन्यायसम्पन्न दोनोंही लोकोंमें अहित करनेवाला होता है। अब यहां पर यह प्रश्न उठ

सकता है कि न्यायसंपन्नविभव क्या वस्तु है ? अत एव उसका थोड़ासा लक्षण दिखलाता हूँ:—

"स्वामिद्रोह–मित्रद्रोह–विश्वसितवञ्चन–चौर्यादिगर्ह्यार्थोपार्जनपरिहारेणाऽर्थोपार्जनोपायभूतः स्वस्ववर्णानुरूपः सदाचारो न्यायः, तेन सम्पन्नो विभवः सम्पद् न्यायसंपन्नविभवः"।

भावार्थ—स्वामीका द्रोह, मित्रका द्रोह, विश्वासी पुरुष को ठगना, चोरी, जूआ आदि दुराचारोंसे निन्दनीय अर्थके उपार्जनका परिहार करके द्रव्य उपार्जन करनेका उपायभूत जो अपने अपने वर्णानुसार सदाचार है उसीको न्याय कहते हैं। उससे प्राप्त हुआ जो अर्थ वह न्यायसम्पन्न विभव कहा जाता है। यह दोनों लोकमें हितका करनेवाला होता है। न्यायवाला पुरुष इस लोकमें शङ्का रहित होकर अपने शरीरमें भोग करेगा, मित्रादिकोंको उसका हिस्सा देगा, वह सत्पात्रमें दान दे सकता है, दया करके दीन अनाथोंकी भी उससे रक्षा कर सकता है। यह न्यायसंपन्न द्रव्य उसे परलोकमें भी हितकर होता है। अन्याय करनेवाले इस लोकमें तो राजदण्ड, वध, बन्धन आदि अनेक कष्ट पातेही हैं, किन्तु परलोकमें भी उन्हें नरकादिक कष्ट सहन करने पडते हैं। कहा है:—

" सर्वत्र शुचयो धीराः स्वकर्मबलगर्विताः ।
कुकर्मनिहतात्मानः पापाः सर्वत्र शङ्किताः " ॥१॥

भावार्थ—स्वकर्मोंके बलसे गर्वित धीर पुरुष सर्वत्र पवित्र अन्तःकरणवाले होते हैं, लेकिन जिस पुरुषकी

आत्मा कुकर्मोंसे नष्ट होगयी है, ऐसे पापिष्ठ लोगोंका अन्तःकरण सर्वत्र शङ्कित रहता है। कभी २ ऐसा भी होता है कि अन्यायी पुरुषको तत्कालही अपने अन्यायका फल नहीं भोगना पड़ता, तथापि यह निश्चय है कि भविष्यमें उसे अपने किये हुए का फल अवश्यही चुखना पड़ता है। वास्तव में सचे तथ्यसे भराहुआ न्यायही अर्थ उपार्जन करनेका यथार्थ कारण हो सकता है। यतः—

" निपानमिव मण्डूकाः सरः पूर्णमिवाऽण्डजाः ।
शुभकर्माणमायान्ति विवशाः सर्वसंपदः " ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे कूपके पास मेंढ़क स्वयं आते हैं एवं पूर्ण सरोवर के निकट पक्षी आपही आप चले आते हैं वैसेही शुभ कर्मोंवाले पुरुषके पास भी सारी संपदाएँ आपही आप गुणाधीन होकर चली आती हैं। जैसे अन्यायसे उत्पन्न किया हुआ द्रव्य कभी धर्मकार्य में नहीं लग सकता है वैसेही न्यायोत्पन्न द्रव्य भी कभी अधर्मकार्य में नहीं लगता। इस विषयमें एक छोटासा दृष्टान्त यहाँ पर देदेना अप्रासंगिक नहीं गिना जायगा।

किसी नगर में एक बड़ा प्रतापी राजा रहता था। उसके प्रचण्ड तेजसे सारी पृथ्वी थर २ काँपती थी। उसका प्रतापसूर्य दशों दिशाओं में अपना प्रभाव फैलाये हुए था। एक समय की बात है कि-राजाके मनमें एक सुदृढ़ दुर्ग बनवाने की इच्छा हुई जो कि कभी किसी कालमें किसी शत्रुसे नहीं जीता जावे और जिसमें रहकर उसके वंशके लोग निरंतर और निष्कण्टक राज्य इस पृथ्वी पर कर सकें। इसलिये उसने अपने यहां के एक प्रसिद्ध

और प्रामाणिक ज्योतिषी से नींव डालनेका मुहूर्त पूछा। ज्योतिषीने अपनी गणनानुसार एक बहुत उत्तम मुहूर्त निर्णय किया और राजा से कहा कि-हे राजन्! यदि इस मुहूर्त में किलेकी नींव डाली जायगी तो आपके वंशमें ससागरा पृथ्वीका राज्य अचल होकर रहेगा। राजाने बड़ी प्रसन्नतासे उस मुहूर्त पर नींव डालनेकी तैयारी करनेकी आज्ञा अपने मन्त्री को देदी और मन्त्रीने इस शुभसमाचार को समस्त राज्यमें डौंडी पिटवा दी। सारी प्रजा उत्सुकताके साथ उस दिनकी बाट देखने लगी।

देखते २ नींव डालनेका दिन आ पहुँचा। अमीर, गरीब, सेठ, साहूकार, ब्राह्मण, शूद्र आदि सभी श्रेणीके लोगोंकी भारी भीड़ उस स्थान पर इकट्ठी हो गयी जहां पर किलेकी नींव डालनेकी थी। सबलोग उत्कण्ठाके साथ राजाके अनुष्ठान किये हुए इस कार्यकी निर्विघ्न समाप्तिके लिये प्रतीक्षा करही रहे थे कि इसी समय राजाकी स्वारी आती हुई दिखाई दी। सब लोग उच्च स्वरसे महाराजकी जयजयकार मनाने लगे। क्रमशः प्रजाकी यह तुमुल हर्ष-ध्वनि कम हुई और ज्योतिषीजीने, जो महाराजके साथही आये थे, कहा कि "महाराज! जहांतक हो शीघ्रता कीजिये, क्योंकि जो मुहूर्त मैंने बतलाया है वैसा मुहूर्त जल्दी फिर नहीं मिलनेका।" महाराजने कहा कि-" अच्छा तो आप बतलाइये क्या किया जाय, मैं तो तैयार हूँ।" ज्योतिषीने कहा-" पहले पाँच प्रकारके रत्न नींवमें डालने चाहियें, किन्तु ये रत्न न्यायके हों, अन्यायसे उत्पन्न नहीं।" महारा-

-उने अपने कोषाध्यक्षको आज्ञा दी कि-फौरन ही पांच प्रकारके रत्न नींवमें डालनेके लिये लाओ।" इसपर ज्योतिषीने कहा-"महाराज! बुरा न मानियेगा। आपके खजानेके रत्न नींवमें नहीं डाले जा सकते क्योंकि, आपकी सम्पत्ति न्यायकी नहीं है। राजाका धन केवल न्यायहीका नहीं होता उसका बहुतसा अंश अन्यायसे भी आता है अतएव आप इन उपस्थित व्यापारी और साहूकारोंसे पूछिये, अगर इनके पास न्यायके द्वारा उत्पन्न किया हुआ धन हो तो वही नींव में डाला जा सकता है।" राजाने सबसे पूछा, किन्तु किसीने अपनी सम्पत्ति केवल न्यायसे पैदा की हुई नहीं बतलायी। इस पर ज्योतिषीने कहा कि-"महाराज! आपके राज्यमें सिर्फ एक सेठ है जो कभी अन्याय नहीं करता। आप उससे कहें कि वह अपने रत्न आपको दे।" राजाने उनके कथनानुसार अपने आदमियोंको स्वारी लेकर उस सेठके पास भेजा। उन लोगोंने जा कर सेठसे कहा कि-"महाराजने आपको शीघ्रही बुलाया है, चलिये। गाड़ी खड़ी है आप उसीपर सवार होचलें क्योंकि वहां जल्दीही पहुंचना चाहिये।" सेठने कहा "मैं पैदल ही चलूंगा, क्योंकि जब मैं घोड़ेको खानेको नहीं देता तब उसपर क्योंकर सवारी कर सकता हूँ।" सेठकी ऐसी नीति देख कर सब कर्मचारी अवाक् हो गये। वे लोग गाड़ी लौटा लाये और वह सेठ दौड़ता हाँफता हुआ राजाके पास पहुँचा। राजाने पूछा "तुमने कभी अन्याय किया है कि नहीं?" उसने कहा, "महाराज! जन्मसे लेकर आजतक मैंने कभी अनीति नहीं

न्यी। जो कुछ साधुतापूर्वक कार्य करनेसे मिलता है उसीसे अपनी जीविका अर्जन करता हूँ।" तब महाराजने कहा—"अच्छा इस समय में एक किलेकी नींव डालना चाहता हूँ उसमें सबसे पहले पांच प्रकारके न्यायसे पैदा किये हुए रत्न डालने चाहिये। इसलिये तुम मुझे रत्न दो जिसमें मेरा यह कार्य उत्तमता पूर्वक और शीघ्रताके साथ हो जाय, क्योंकि हमारे ज्योतिषीने कहा है कि-आज के ऐसा मुहूर्त फिर नहीं आनेका। मुहूर्त बीता जाता है शीघ्रता करो।" सेठ ने उत्तर दिया, "महाराज! आप हमारे अन्नदाता, राजा और पितातुल्य हैं जो चाहें आज्ञा कर सकते हैं, किन्तु खेद है कि आपकी इस आज्ञाको मैं पालन नहीं कर सकता। मेरा पैसा नीतिका है। आपके काममें नहीं आ सकता। क्योंकि न्यायका धन कभी अधर्म कार्यमें नहीं जाता।" इस बातको सुन राजाको बेहद क्रोध हुआ और उन्होंने भय दिखलाकर सेठसे रत्न लेना चाहा। तब ज्योतिषीने कहा कि "अगर आप इससे बलप्रदर्शन करके रत्न लेंगे तब तो यह अनीतिका होजायगा फिर यह क्योंकर नींव में दिया जा सकता है?" राजाने अब आपेसे बाहर होकर कहा कि "मेरा धन अन्यायका और सेठका धन नीतिका है इसकी परीक्षा होनी चाहिये।" ऐसा कह कर उन्होंने एक अशर्फी अपने नौकरोंको दी और कहा कि इसे जाकर किसी अच्छे महात्मा को दो। इसी प्रकार एक अशर्फी सेठसे लेकर दूसरे नौकरोंको दी और कहा कि इसे किसी अव्वल दर्जेके पापी को दो। जिसका धन न्यायका होगा,

उसका न्यायमें और जिसका अन्यायका होगा उसका अन्यायमें जायगा । ऐसी आज्ञा देकर उन्होंने कई गुप्तचर इन लोगोंके कार्योंको छिपे २ देखनेके लिये नियत कर दिये । राजाका सङ्कल्प पूरा नहीं हो सका और निर्धारित मुहूर्त व्यर्थही में बीत गया ।

राजा और सेठकी अशर्फियों को लेकर राजकर्मचारियोंके दो दल दो ओर चले । राजाकी अशर्फी लेकर जो चले थे वे लोग जब गंगाके किनारेपर पहुंचे तब वहां देखते क्या हैं कि-एक बालब्रह्मचारी संन्यासी आसन लगाये ध्यानमें मग्न बैठे हैं । इधर उधरके लोगोंसे पूछने पर ज्ञात हुआ कि यह महातपस्वी ४० वर्षसे इसी प्रकार यहां पर तपश्चर्या कर रहा है और बालकपन से ही इसे तपस्यासे डिगते हुए किसीने नहीं देखा । राजाके दूतोंने सोचा बस इनसे बढ़ कर महात्मा काहेको कौन होगा, अत एव यह अशर्फी इन्हींको देनी चाहिये । इस विचारसे उन्होंने अशर्फी उनके पास रखदी और कुछ दूरपर छिपकर देखने लगे कि यह महात्मा अशर्फीको लेकर क्या करते हैं । तदनन्तर कुछ देरमें जब उस महात्माकी समाधि खुली तब उन्होंने अपने सामने चमचमाती हुई स्वर्णमुद्रा देखी । सोचा, हमारी उग्र तपस्यासे प्रसन्न होकर क्या परमात्माने ही यह मुद्रा भेजी है ? । नहीं तो कितनी कठिनतासे जो अर्थ पैदा होता है वह अकस्मात् क्योंकर मेरे पास आ गया ? वे इसी प्रकार सोचते विचारते थे कि उस अन्यायके धनने हृदय के सकल सद्गुणों को तो नष्ट कर ही दिया बल्कि उनके स्थान पर नाना प्रकार की बुरी वासनाएँ

भी पैदा होने लगीं। जिससे उन्होंने सोचा कि-अपनी तपश्चर्या के प्रभावसे मैंने सब कुछ तो देखा किन्तु 'नारीपीनपयोधरोरुयुगलं स्वप्नेऽपि नालिङ्गितम्'। अत एव यह अभिलाषा भी पूर्ण करलेनी चाहिये, जिससे यह वासना मनमें ही न रह जाय। यह सोच उस महात्माने एक वेश्या के घर जाकर अपना मुँह काला किया जिससे उसकी ४० वर्ष की तपस्या नष्ट होगई। राजा के गुप्तचर यह लीला देखकर आश्चर्यमें आगये और उन्होंने निश्चय किया कि-वास्तव में अन्याय का धन कभी धर्म कार्यमें व्यय नहीं हो सकता।

इधर जिन दूतोंने सेठकी अशर्फी पायी थी वे लोग गंगाके किनारे घूम रहे थे कि उसी समय टोकरीमें बहुतसी मछलियों को रखे कन्धेपर जाल लटकाये मल्लाहको देखा, जिसके शरीर पर कोई कपड़ा नहीं था, और सिर्फ कमर में लँगोटी बांधेहुए था। उसके सारे शरीरसे इस प्रकारकी दुर्गन्धि आती थी जिससे पास के चलनेवालों को नाक बन्द करनी पड़ती थी। दूतोंने सोचा कि इससे बढ़ कर पापी कौन होगा जो नित्य सहस्रों जीवोंकी हिंसा करके ही पेट पालता है। ऐसा विचार कर उन्होंने यह अशर्फी उसे देदी और कहा कि "राजा ने आज दीन दुःखियोंको बहुतसा दान दिया है, इस लिये तुम भी यह अशर्फी लो और जाकर आनन्द करो।" मल्लाहने अशर्फी कभी देखी नहीं थी। उसने सोचा कि परमात्माने मुझपर तो आज बड़ीही कृपा की। अब देखिये यह न्यायकी मुद्रा उस मत्स्यजीवीके विचारोंको किस प्रकार पलट देती

है। उस मल्लाह ने विचार किया कि-पहिले तो मैं इतने जीवों को दिनभर बैठकर संहार करता हूं और फिर घरभर मिलकर बाजारमें ढोकर बेचने के लिये लेजाते हैं सो क्यों ?, क्या इससे अच्छा और धर्मयुक्त मार्ग जीवननिर्वाह करनेका दूसरा कोई नहीं है ?। ऐसा विचार चित्तमें उत्पन्न होतेही उसने अपने सिरपरकी सारी मछलियोंको फिर गंगामें धीरेसे छोड़ दिया और घर चला आया। घरवालोंने देखा कि-रोज तो ये मछलियाँ बेच कर रातको आया करते थे और आज इतना सबेरे कैसे आ पहुँचे ? उनलोगोंके पूछने पर जालजीवीने कहा कि-" आज मुझे राजाके दूतोंने एक अशर्फी प्रदान की है। मैंने सोचा कि-अब क्यों इन बिचारी मछलियोंको मारूँ। चलो राजमहलके पास रह कर कोई ऐसा काम करूँ जिसमें धर्मपूर्वक जीवननिर्वाह हो। " उसके घरवालोंने भी अशर्फीको देख कर बड़ा आनन्द मनाया और सबके जीमें उस धर्मके द्वारा पैदा किये हुए धनने धार्मिक भाव उत्पन्न करदिया। उन लोगोंने निश्चय किया कि-अबसे हमलोग मछलियाँ नहीं मारेंगे और सब मिलकर कोई काम ऐसा करेंगे जिसमें पाप न हो। गुप्तचरोंने यह लीला देखकर बड़ा आश्चर्य माना। और आकर राजासे सब वृत्तान्त सुनाया। राजाभी दोनों अशर्फीयोंके परिणामको सुनकर आश्चर्य में पड़गये और सब लोगोंके जीमें उस दिनसे यह बात दृढ़रूपसे बैठ गई कि धर्मका पैसा अधर्म में और अधर्मका धन धर्ममें कभी नहीं लगता।

इस दृष्टान्तसे आपलोग समझ गये होंगे कि-न्याय-

सम्पन्न द्रव्य ही धर्मकार्यमें लगता है। अत एव न्याय-संपन्न द्रव्य ही अर्थनामक पुरुषार्थ कहा जाता है।

बस इतना कहकर अब मैं 'काम' नाम के तीसरे पुरुषार्थ की ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

प्रथम कामका सामान्य लक्षण इस तरह है-" आभिमानिकरसानुविद्धा सर्वेन्द्रियप्रीतिः कामः" अर्थात् इच्छितरसयुक्त सब इन्द्रियोंमें प्रीति होना काम कहलाता है। शास्त्रकारोंने कामके दो भेद कहे हैं, १ भोग और २ उपभोग। जो वस्तुएं एकही बार भोग में आती हैं वे भोग और जो अनेकबार भोगमें आती हैं उन्हें उपभोग कहा जाता है। यह भोगोपभोग यदि शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार सेवन किया जाय तो उसे काम कहते हैं। यदि उसका अनीतिपूर्वक सेवन किया जाय तो यह भोग नहीं कुभोग और उपभोग नहीं बल्कि कुत्सित उपभोग है। जैसे धर्मशास्त्र में गृहस्थों के लिये स्वदारासन्तोष दिखलाया हुआ है, उसमें भी कितने ही आवश्यक समयोंके लिये ब्रह्मचर्य पालन करनेका उपदेश किया गया है। जैसे एक पक्षमें अर्थात् हर एक पन्द्रह दिनमें पांच तिथियोंको ब्रह्मचर्य अवश्य पालन करना चाहिये। यह बात केवल जैनशास्त्रोंमें ही नहीं है किन्तु पुराणोंमें भी इसका प्रतिपादन किया गया है। यहां पर मैं इतना कहना चाहता हूँ कि यदि गृहस्थ लोग शास्त्रमर्यादाके अनुसार कामनामक पुरुषार्थको सेवन करें तो निश्चय से उनकी सन्तति शक्तिमान् हो। जो पुरुष अपनी स्त्रीको छोड़कर दूसरी पर मन चलाता है वह अपनी स्त्रीको

आपही नष्ट करता है। क्योंकि स्त्रियोंको पुरुषकी अपेक्षा आठगुना अधिक काम होता है, तिसपर भी उन्हें पतिव्रत-धर्मका पालन करनेको बाध्य होना पड़ता है। इसलिये कुलीनस्त्रियां अपने कुलोंकी मर्यादाकी रक्षा करनेका प्रयत्न करती हैं; लेकिन बड़े शोककी बात है कि पुरुषलोग लज्जा को छोड़ स्वदारासन्तोषको जलाञ्जलि दे देते हैं। मैंने ऐसे कितनेही पुरुषोंको देखा है जो अन्य स्त्रियोंको रखनेसे अपनेमें ज्यादा पुरुषार्थ मानते हैं। ऐसे हतभाग्य पुरुषोंको समझना चाहिये कि-यह मैथुनसंज्ञा चौरासीलाख योनिके सभी जीवोंमें है। राजासे लेकर रङ्क तक सभी जीव विषयासक्त हैं किन्तु जो उससे दूर रहे वही वास्तविक महात्मा है। इसलिये जो पुरुष शास्त्रमर्यादानुसार और लौकिक रूढ़िको ध्यानमें रख कर संसारका व्यवहार चलाता है वही पुरुष वास्तव में 'काम' नामक पुरुषार्थको साधन करनेवाला कहा जा सकता है।

पूर्वोक्त तीनों पुरुषार्थोंसे रहित जिस पुरुषके दिन व्यतीत होते हैं उसको यद्यपि सांस तो आती जाती है किन्तु वह मरे हुए के तुल्य है जैसे लुहारकी धौंकनी।

कहा है:—

" यस्य त्रिवर्गशून्यानि दिनान्यायान्ति यान्ति च।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति " ॥ १ ॥

इस श्लोकका भावार्थ ऊपरही कहा जा चुका है। अब मैं तीनों वर्गोंकी परस्पर अविरुद्धता दिखलानेका प्रयत्न करता हूं।

तीनों वर्गोंका साधन परस्पर अविरुद्ध रीतिसे करना चाहिये; जिसमें किसी प्रकारकी आपत्ति न आवे। देखिये, केवल कामका साधन करनेवाले पुरुषकी आयु शीघ्र ही सम्पूर्ण हो जाती है। जो लोग धर्म और धन (अर्थ) दो पुरुषार्थों का घात करनेसे क्षणिक विषयके सुख में लुब्ध होते हैं वे वनके हाथी की तरह केवल आपदाओंके स्थान होते हैं। जैसे वनका हाथी विषयके सुख में लुब्ध होकर हस्तिपातकोंके द्वारा फँसकर महा-वेदनाओंका अनुभव करता हुआ मरणको प्राप्त होता है, वैसेही कामासक्त पुरुष शरीर, धन और धर्मका नाश करके दुर्गतिका भागी बनता है। इसलिये केवल कामकी सेवा करना कभी उचित नहीं है। अब देखिये केवल अर्थ का सेवन करनेवाला पुरुष धर्म और काम इन दोनों पुरुषार्थों को उलङ्घन करनेके कारण वनके सिंहकी भाँति केवल पापका भागी होता है; अर्थात् जैसे वनका सिंह हाथीको मार करके दूसरे वनके जीवों के वास्ते छोड़ देता है वैसेही लोभी जीव पापकर्म से इकट्ठे किये हुये द्रव्यको मरणसमय दूसरोंके स्वाधीन करदेता है और स्वयं केवल पापका भागी बनता है। अत एव केवल अर्थकी सेवा करनी भी उचित नहीं है। अब कोई यह शंका कर सकते हैं कि-केवल धर्मकी सेवा करनेमें क्या हानि है? क्योंकि धर्म तो सबसे श्रेष्ठ है। उसके उत्तरमें यह समझना चाहिये कि-यहांपर गृहस्थोंका अधिकार चलरहा है, और केवल धर्मसेवा करना साधुओंकाही धर्म है, गृहस्थोंका नहीं। अत एव केवल धर्मसेवा भी गृहस्थोंके योग्य नहीं गिनी जाती। इसपर कोई

यह प्रश्न करेंगे कि-अर्थ और काम केवल दो पुरुषार्थों का सेवन करने में क्या दोष है ? उसका उत्तर यह है कि-बीजभोजी किसान के कुटुम्बी जैसे आगामी काल में सुख के भागी नहीं होते किन्तु दुःखपरंपरा को ही प्राप्त करते हैं, वैसेही धर्मका नाश करके केवल अर्थ और काम की सेवा करनेवाले कदापि सुखी नहीं होते। अब कोई यह भी पूछ सकते हैं कि-धर्म और काम दोनों की सेवा करने में तो कोई दोष नहीं है ?, क्योंकि धर्म करनेवाला परलोक में स्वर्गादि सुख का अनुभव करता है और काम में इहलोक संबन्धी भोगसंयोग मिलते हैं। ऐसा विचार करनेवाले पुरुष को समझना चाहिये कि-विना अर्थ (द्रव्य) के कोई पुरुष दोनों का साधन नहीं कर सकेगा। द्रव्यको कर्ज़े लेकर धर्म और काम की आराधना करेगा तो देनदार हो जायगा और अन्तमें कैद होजाने का समय आवेगा। अत एव मालूम होता है कि धर्म और काम केवल इन दोही पुरुषार्थोंके सेवन करनेमें क्षति है। अब कोई ऐसा कहें कि ' धर्म और अर्थ इन्हीं दो पुरुषार्थोंके सेवन में क्या दोष है ? क्योंकि इनके साधनमें ऊपर लिखीहुई अडचनें तो नहीं आतीं। इसलिये अर्थपुरुषार्थसे द्रव्य इकट्ठा करके धर्मका साधन करेंगे। ' लेकिन सुनिये ! गृहस्थोंका धर्म है कि संसार के व्यवहारोंको नीतिपूर्वक चलावें। अगर वैसा नहीं होगा तो गृहस्थधर्मका अभाव हो जायगा और गार्हस्थ्याभावसे संसार नहीं चलेगा। तथा साथही साथ यह भी ध्यान में रहना चाहिये कि-१ तादात्विक २ मूलहर और ३ कदर्य-ये तीन प्रकार के पुरुष भी

होते हैं। इनमें तादात्विक उसे कहते हैं जो कुछ भी विचार न करके पायेहुए द्रव्यका अपव्यय करता हो। और मूलहर उसे कहते हैं जो बापदादे के पैदा किये हुए द्रव्यको अन्यायपूर्वक भक्षण करता हो। तथा जो आत्मा तथा सेवकों को दुःख देकर द्रव्य इकट्ठा करता है और उसे किसी काम में व्यय नहीं करता वह कदर्य कहा जाता है। तथा इन तीन पुरुषों में धर्म, अर्थ और काम की अन्योन्य बाधा हो सकती है। जैसे तादात्विक और मूलहर का अर्थ नाशहोने से धर्म और काम स्वयं नष्ट होजाते हैं; इस लिये कल्याण भी नहीं होता और कदर्य पुरुष के संग्रह किये हुए अर्थ के मालिक राजा, हिस्सेदार तथा चोर ही होते हैं। इसलिये वह धर्म और काम का हेतु नहीं होता है; अत एव धर्म, अर्थ और काम इन तीनों ही पुरुषार्थोंको समयोचित रीतिसे परस्पर अविरुद्ध आराधना करनी उचित है। कदाचित् दैवयोग से किसी पुरुषार्थकी हानिका संभव हो तो उत्तरोत्तर हानि होने पर पूर्वहानिकी रक्षा करनी चाहिए। जैसे किसी पुरुषको वृद्धावस्था अथवा निर्धन और रोगी हो जाने की दशामें स्त्रीकी मृत्यु होनेसे कामकी हानि हुई, तो उस समय धर्म और अर्थको भी नष्ट नहीं करना चाहिये। धर्म और अर्थ यदि निराबाध हैं तो अवश्य काम पुरुषार्थकी पुनः प्राप्ति होनेकी संभावना है। कदाचित् अर्थ और काम दोनों की हानि हो जाय तो धर्मकी रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि धर्म ही अर्थ, काम और मोक्षका कारण है।

यतः-

"अर्थः कामश्च मोक्षश्च प्रवर्तन्ते यतस्त्रयः ।
स श्रीधर्मः कथं न स्यात् करणीयः सतां नृणाम्" ॥१॥

भावार्थ—अर्थ, काम और मोक्ष—ये तीनोंही जिस धर्मके द्वारा प्राप्त होते हैं वह धर्म सत्पुरुषोंके करने योग्य कैसे नहीं है ? । और भी देखलीजिये, सूक्तमुक्तावलीमें क्या लिखा है—

"त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य ।
तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति न तं विना यद्भवतोऽर्थकामौ" ॥

भावार्थ—तीन वर्गके साधन विना मनुष्यका जीवन भी पशुओंकी तरह निष्फल है । और इन तीनों वर्गों में भी धर्म श्रेष्ठतर है । ऐसा सज्जनलोक कहते हैं क्योंकि धर्मके विना अर्थ और काम होही नहीं सकते । अत एव काम और अर्थ नष्ट होनेपर भी धर्मको कभी नहीं छोड़ना चाहिये । पाठको ! अब प्रसंगवश आपलोगोंको आत्मकल्याणमें उपयोगी और सदाके लिये स्मरण रखने-योग्य एक कवि की कथित उत्प्रेक्षा यहाँपर दिखलाता हूँ । आप लोगोंको अनुभव होगा कि प्रायः सभी लिखने-वाले लिख चुकने पर लेखनीको अपने कान पर रख-लेते हैं । उसका हेतु एक कविने एक श्लोकद्वारा यों दिखलाया है:—

"साधुभ्यः साधुदानं रिपुजनसुहृदां चोपकारं कुरु त्वं
सौजन्यं बन्धुवर्गे निजहितमुचितं स्वामिकार्यं यथार्थम् ।

श्रोत्रे ते तथ्यमेतत् कथयति सततं लेखनी भाग्यशालिन् !
नो चेन्नष्टेऽधिकारे मम मुखसदृशं तावकास्यं भवेद्धि ॥१॥

भावार्थ—लेखनी कान में कहती है कि-हे भाग्यशालिन् ! मैं ऐसे वैसे मनुष्यके हाथमें नहीं आती हूँ। जिसने पूर्व में थोड़सा भी ज्ञानावरणीय कर्म क्षय किया है उसीके हाथमें आती हूँ। तू मेरा स्वामी है अत एव मैं तेरे कानमें सची २ बातें कहती हूँ सुन ले- साधु जनोंको दान दे, शत्रु मित्र दोनोंहीका उपकार कर, बन्धुवर्ग में सुजनता रख और अपना उचित कर ले; तथा स्वामीका कार्य यथार्थ रूपसे कर। यदि मेरी इस हितशिक्षाका अनादर करेगा तो जब तेरा अधिकार नष्ट हो जायगा तब जैसा मेरा मुख है वैसाही तेराभी हो जायगा। अर्थात् मैंने जिस तरह नाक कटायी और मुँह काला किया है उसी तरह तेरी भी नाक कटेगी और मुँह काला होगा।

प्रियपाठको ! ऊपर के श्लोक के शब्दों पर आप लोगोंने अच्छी तरह ध्यान दिया होगा और आप सब समझ भी गये होंगे, तो भी दो एक शब्दों की व्याख्या करदेना मैं अनुचित नहीं समझता हूँ। 'शत्रु और मित्र का उपकार करना' इसी में तथ्यभरा हुआ है, क्योंकि मित्र के उपकार करने में कोई आश्चर्य नहीं है। देखिये मित्रका उपकार प्रेमभाव से होता है और शत्रुका उपकार समभाव से होता है। समभाव रखनेवाला पुरुष जगत् में कदाचित् ही दृष्टिगोचर होता है। मन्त्रादि की शक्ति से शिला आदि को आकाश में निराधार रखने

वाले सैकड़ों मनुष्य होते हैं, नाम के लिये लाखों रुपये पानी की तरह बहादेने वाले बहुतेरे दिखाई देते हैं और युद्ध में स्वामीको जय के लिये प्राण देनेवाले लाखों आदमी मौजूद हैं किन्तु शत्रु मित्रपर समभाव रखनेवाले दो चार आदमी भी मिलने कठिन हैं। यतः—

"दृश्यन्ते बहवः कलासु कुशलास्ते च स्फुरत्कीर्तये
सर्वस्वं वितरन्ति ये तृणमिव क्षुद्रैरपि प्रार्थिताः।
धीरास्तेऽपि च ये त्यजन्ति झटिति प्राणान् कृते स्वामिनो
द्वित्रास्ते तु नरा मनः समरसं येषां सुहृद्वैरिणोः" ॥१॥

इस श्लोक का भावार्थ ऊपर ही लिखा जा चुका है अत एव पिष्टपेषण करना उचित नहीं मालूम पड़ता।

अब पहले श्लोक के 'सौजन्यं बन्धुवर्गे' इस वाक्य की ओर ध्यान दीजिये। यहाँ 'बन्धु' शब्दका अर्थ आप लोग यह न समझलें कि एक माता के दो चार पुत्र हों वेही बन्धु कहे जाते हैं। ऐसा समझना ठीक नहीं है क्योंकि इस तरहका अर्थ संकुचित हो जायगा। मैं यह कहता हूं कि इस भारतभूमि में जो २ मनुष्य उत्पन्न हुए हैं वे सभी हमारे बन्धु हैं। ऐसा समझकर उन सभी से सुजनता और प्रेमभाव रक्खो; भिन्नता से भले रहो, लेकिन विरोध का सर्वथा त्याग करो; स्पर्धा भले रक्खो पर ईर्ष्या को कभी अपने पास फटकने मत दो। आप-लोग देखते ही हैं क्या इतरदेशों में भिन्नता नहीं है? लेकिन वे लोग विरुद्धभाव को छोड़कर किस प्रकार स्वतन्त्र राज्य चला रहे हैं। उसी तरह जब आप

लोगोंमें से भी विद्धता नष्ट हो जायगी, तभी आप स्वराज्य के भोक्ता बन सकेंगे। अन्याय, अनीति और अनारकिस्टों की तरह घातकपने से स्वराज्य के भागी बनना तो दूर रहा प्रत्युत राज्यविद्रोही बनकर नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र की मर्यादा का त्याग करने के कारण प्रायश्चित्त के भागी बनोगे। इस भांति नीतिशास्त्र कहता है। योगशास्त्र में भी कहा है कि-" अवर्णवादो न कापि राजादिषु विशेषतः " भावार्थः-किसीका अवर्णवाद अर्थात् निन्दा नहीं करनी चाहिये; राजादिकों की तो कदापि नहीं करनी चाहिये। उसी प्रकार मैं कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य की पूर्वोक्त हितशिक्षा को निरन्तर हृदय में रखने की आप लोगों से प्रार्थना करता हूँ। धर्मशास्त्रों में भी "राजाधिपानां शान्तिर्भवतु" इत्यादि महावाक्य दृष्टिगोचर होते हैं। उसका मूल कारण अगर देखा जाय तो अवश्य ऐसा प्रतिभास होगा कि राजाधिपोंको शान्ति होगी तो मांडलिक राजाओं को भी शान्ति होगी, मांडलिक राजाओं की शान्ति होने से प्रजा को भी शान्ति होगी और प्रजाओं की शान्ति से धर्मसाधकों को भी शान्ति होने का संभव है अर्थात् जब दुनियां की शान्ति होगी तब तो एक को भी शान्ति होगी। आप लोग समझ सकते हैं कि दूसरे की अशान्ति के समय में अगर कोई पुरुष शान्ति का आस्वाद लेना चाहे तो कदापि मिलनेवाला नहीं है। इस लिये मेरी यह शिक्षा है कि अन्याय-अनीति और घातकीभाव को छोड कर अपने २ उद्यम में लग जाओगे तो अवश्य ही देश के साथ आप लोगों का वास्तविक बन्धुभाव उत्पन्न

होगा और लेखनी की उपर्युक्त हितशिक्षा भी सफल होगी।

पाठको! अब मैं चौथे पुरुषार्थ, जोकि सब से गहन विषय है, उस 'मोक्ष' नामक पुरुषार्थ की व्याख्या सरल शब्दों में आपलोगों के हृदयंगम कराने की चेष्टा करूँगा। सुहृद्‌गण! आपलोग समझते ही हैं कि इस संसार में सब जीवों के व्यवसाय अलग अलग हैं, जाति भिन्न २ है, बुद्धि भी भिन्न २ है और शारीरिक संपत्ति भी भिन्नही भिन्न मालूम होती है। तथापि लक्ष्य सब का द्रव्योपार्जन करने का ही है। कर्मानुसार लाभ मिलता है। इसी प्रकार षड्‌दर्शन के अनुयायिजनों की क्रिया भिन्न है। वर्णधर्म और आश्रमधर्म भी भिन्न भिन्न हैं। कल्पनाओं, शास्त्रादि तत्त्वचिन्तना और आत्मसम्बन्धी ज्ञान-प्रणाली भिन्न भिन्न देखते हैं; तथापि मोक्षबिन्दुपर सब का लक्ष्य है। कितने विचारे विश्वाससे मोक्षके लिये प्रयत्न करनेपर संसार में गिर पड़ते हैं। जैसे किसी पुरुषको मिर्ज़ापुर से काशी जाना है, टिकट भी काशीही की लीया है किन्तु किसी धूर्तसे बहकाया हुआ अथवा अपने मतिभ्रम से वह इलाहाबाद की ट्रेन में जा बैठा। तदनन्तर उसको किसी सज्जन से भेट हुई। उसने पूछा " भाई! कहाँ जाते हो? " उसने कहा, " मैं बनारस जाता हूँ " सज्जनपुरुष ने फिर कहा, " भाई यह ट्रेन तो काशी नहीं, इलाहाबाद-जाती है। " तब उस भद्रपुरुष ने कहा, " देखिये, मेरे पास काशी की टिकट है तो मैं इलाहाबाद कैसे जाऊँगा? " बात ही बात में गाड़ी स्टेशन पर आपहुँची। टिकट इलाहाबाद

की नहीं होनेसे टिकटवाले ने उसे पकड़ लिया। दूना किराया देकर पिण्ड छूटा। फिर लौटे। इसी प्रकार कितनेही बिचारे भद्रपुरुष मुक्तिनगरी के अभिलाषी होकर दान, शील, तप और भाव आदि रूप टिकट लेकर रवाना होते हैं। इतने में जड़वादी नास्तिकों का समागम होने से वे श्रद्धा को नष्ट कर उन्मार्ग में चले जाते हैं। दानादिरूप टिकट होनेपर बिचारे मुक्तिके भ्रमसे दुर्गति नगरी का रास्ता पकड़ते हैं। इतनेमें कोई अन्य पुरुष उससे पूछता हैः— 'भाई! ऐसे कृत्य क्यों करते हो?' तब जवाब मिलता है कि- मुक्ति के लिये। तब वह भव्य कहता हैः— ऐसे धर्मविरुद्ध कृत्य से तो मुक्ति नहीं मिलती है। उसके जवाब में यह भ्रान्त पुरुष कहता है कि- सच्चा मार्ग मेराही है, क्योंकि आत्मज्ञान, पुण्य, पाप, नरक, स्वर्ग, धर्म तथा अधर्मादि माननेवाले के मतमें अनेक झगड़े होतेही हैं और जहां झगड़े होते हैं वहां रागद्वेष होते हैं। रागद्वेषवाले पुरुषों को मुक्ति का मार्ग नहीं मिलता है और हमारे सिद्धान्त में आत्मादि पूर्वोक्त वस्तुओंका अभाव होने से झगड़ों का भी अभाव है, झगड़े नहीं हैं तो रागद्वेष का भी अभाव हुआ, रागद्वेष का अभाव होनेसे मुक्ति स्वतःसिद्ध दृष्टि में आती है। ऐसी असत्कल्पनारूप जाल में फँस कर कितने ही जीव मुक्तिमार्ग को छोड़ कर दुर्गति के मार्ग पर जाते हुए दिखाई पड़ते हैं। आपलोग समझिये कि जिसके मतमें आत्मा पदार्थ नहीं है, उस मार्ग में मुक्ति शब्द का व्यवहार करना खरशृङ्गके समान है। महाशयो! नास्तिकों को मुक्ति प्रबल होने पर भी आस्तिकों को

असर नहीं करती है; किन्तु भद्रिकप्राणियों को अवश्य धर्ममार्गसे परिभ्रष्ट करती है। इसी कारण षट्दर्शनके अनुयायिपुरुषोंने आत्मसिद्धि के लिये अनेक युक्तिप्रयुक्तियाँ दी हैं। मैं पहलेही कह चुका हूं कि सभी दर्शनकारोंने मुक्ति की सत्ता स्वीकार तो की है, किन्तु मुक्ति के मार्ग भिन्न २ दिखलाये हैं; अतः कितने मुमुक्षुजन स्वबुद्धि के अनुसार अर्थ करके एक दूसरे से अलग हो कर सच्चे मार्ग की निन्दा करनेका अर्थात् खण्डन करनेका काम अपने हाथ में लेकर तत्त्वज्ञान से विमुख रहते हैं। इस बातका हमारे मनमें निरन्तर खेद बना रहता है और इसी से उस खेद को दूर करने ही के लिये हमने इस प्रकार आप लोगों के ऊपर अपने विचार प्रकट करने आरंभ किये हैं। ऐसा करने से यद्यपि आप लोग अन्यधर्म में श्रद्धावान् होने के कारण अथवा और ही किसी कारण से हमारी युक्तियों को नहीं मानेंगे तथापि हमारे मनका खेद किसी अंश में अवश्यही कम होगा, क्योंकि जिस मनुष्य की भावना शुभ होती है उसको शास्त्रकारोंने लाभ ही बतलाया है। इसी न्यायका अवलम्बन करके मैं मुक्ति के प्रतिपादन में अग्रसर होता हूँ।

मुक्ति शब्द की सामान्य व्युत्पत्ति इस तरह है-"मुच्यते कर्मणेति मुक्तिः" अर्थात् कर्म से मुक्त होनेही का नाम मुक्ति है। और मुक्त होने की इच्छा किस मनुष्य को नहीं होती; किन्तु इच्छाके अनुसार कार्य होने में विरुद्धता आती है; क्योंकि मुक्तिमार्ग में रागद्वेषादि बिल्कुल नहीं हैं। लेकिन बड़े अफसोस की बात है कि अभागे जीवों

के लिये मोह, सम्मोह, अतिमोह और महामोहरूपपवन, रागद्वेषरूप कण्टकों को लाकर मुक्ति के मार्ग में डाल देता है, उससे बिचारे जीव पीछे लौट कर अपने स्थान में पड़े रहते हैं।

सज्जन पाठकवृन्दो! मोह महाराज का प्रपञ्च बहुतही विलक्षण है। जैसे धन, धान्य, पुत्र, पुत्री, कलत्रादि का दुनियाँ में मोह होता है वैसेही धर्म का भी मोह होता है, जो मोह मनुष्य को धर्मनिमित्त पागल बनाकर असत्कल्पना में डाल कर दुर्गतिकी ओर ले जाने में नहीं भूलता। अतएव मुक्ति के अभिलाषी जीवों को मोहके द्वारा उत्पन्न किये हुए ममत्वभावको त्याग कर प्रत्यहं अनभिनिवेशित बनना चाहिये-अर्थात् आग्रह को छोड़ कर सत्य पदार्थ का चिन्तन करना, रागद्वेष कम करना, पाप की भाँति पुण्य का भी त्याग करना, क्योंकि पुण्य पाप का जब सर्वथा क्षय होता है तब ही यह केवल ज्ञान का अधिकारी होता है। यह जीव, ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म को समूल नाश करता है। पश्चात् आयुष कर्म, नाम कर्म, गोत्र कर्म और वेदनीय कर्म की जब सर्वथा निवृत्ति होती है तब सिद्ध, बुद्ध, निरञ्जन, निराबाधादि विशेषणयुक्त होता है। उसका सुख कैसा और कितना होता है सो कहने के लिये उपमान पदार्थ और प्रमाण नहीं होनेसे अनुपमेय अनन्त शब्द से प्रयोग करना पड़ता है। आप लोग जानते होंगे कि जगत् में कितनेही पदार्थ विद्यमान हैं और वे सदा अनुभव में आने पर भी हम लोग उनके स्वादादि को नहीं समझ सकते हैं। जैसे घी को सब कोई खाता है,

उसका स्वाद सब कोई जानता है कि सुन्दर है; लेकिन वह स्वाद किसके जैसा है सो कोई भी नहीं बतला सकेगा। बस इस बात से आप लोग समझ गये होंगे कि जिस वस्तु का हम लोग रात दिन अनुभव करते हैं उसका स्वाद कहने को भी हम लोग असमर्थ हैं तो मोक्षसुखकी उपमा मुझे कोई न मिले तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। बस इतना भूमिका की भांति कहकर अब मैं प्रत्येक दर्शनकारों ने जो भिन्न २ प्रकार से किन्तु तात्पर्यमें एक जैसे मुक्ति के स्वरूप दिखलाये हैं उनका दिग्दर्शन कराता हूं।

आप लोग जानते हैं कि मुक्ति निरुपाधिक है, तथापि मुक्तिके विषय में अनेक उपाधियां खड़ी होती हैं। यह भी हमारे मोहमहाराज के साम्राज्य के सिवाय और कुछ भी नहीं है। मोहमहाराज का ज्येष्ठ पुत्र 'मिथ्याज्ञान' मनुष्य के अन्तःकरण में प्रवेश करके स्वेच्छाचार से नयी २ कल्पनाओं को बनाकर बिना जलके रण में इधर उधर दौड़ाता है। सन्मार्ग के अक्षर घुणाक्षरन्याय से शब्द रचना रूप निकल जाते हैं तो भी अर्थ के समय जरूर अनर्थको पैदा करता है। उसका दिग्दर्शन कराने के लिये मैं यहां पर भिन्न भिन्न सिद्धान्तों को दिखलाता हूं।

१ केचिद्वदन्ति गुरुवचने निश्चयो मोक्षमार्गः।
२ केचिद्वदन्ति गुणातीतवस्तुज्ञानं मोक्षमार्गः।
३ केचिद्वदन्ति ॐ साकारस्य विनाशोऽस्ति निराकारस्य शून्यतोभयपक्षविहीनवस्तुज्ञानं मोक्षमार्गः।

४ केचिद्वदन्ति एकदेशस्य सिद्धान्तकथितमुक्तिविधानं मोक्षमार्गः ।

५ केचिद्वदन्ति व्यापकसकलागमशास्त्रार्थनिष्ठाचारकारणं मोक्षमार्गः ।

६ केचिद्वदन्ति मनःपवनमध्ये ध्यानधारणं मोक्षमार्गः ।

७ केचिद्वदन्ति महावाक्यविवरणं मोक्षमार्गः ।

८ केचिद्वदन्ति दृष्टादृष्टोभयज्ञानाभावो हि मोक्षमार्गः ।

९ केचिद्वदन्ति अस्तिनास्तीत्युभयविलयो मोक्षमार्गः ।

१० केचिद्वदन्ति सोऽहं सोऽहं सहजानन्दात् समरसत्वं मोक्षमार्गः ।

११ केचिद्वदन्ति मौनाङ्गीकाराद्धि मोक्षमार्गः ।

१२ केचिद्वदन्ति स्वात्मानन्दबोधमयो मोक्षमार्गः ।

१३ केचिद्वदन्ति नानातीर्थयात्राजपतपोदानव्रतैर्मोक्षमार्गः ।

इत्यादि मोक्षमार्ग शंकरस्वामीने अपने 'वज्रसूची' नामके ग्रन्थ में दिखलाये हैं । यह बात अन्य मत का खण्डन और अपने मतका मण्डन करने के आशय से लिखी हुई मालूम होती है, परन्तु मेरा उद्देश्य केवल वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन करनेका है । अतएव अपने पूर्वोक्त कथनानुसार सर्ववादियों का अनेकान्त दृष्टि से अन्वेषण किया जाय तो सब कोई " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " इस बात पर आकर खड़े होंगे और यही सच्चा मोक्ष मार्ग है । अब क्रमशः मैं पहिले दिखलाये

हुए मोक्ष मार्ग के भिन्न भिन्न स्वरूपों की समीक्षा करता हूँ:—

(१) प्रथम दर्शनकारने जो गुरुवचन में निश्चय रखनेवाले को ही मोक्ष होना बतलाया है। यह बात अनेकान्तदृष्टि से अयुक्त नहीं है; क्योंकि यह बात सब मानते हैं कि गुरुके बिना ज्ञान नहीं है। ज्ञान दर्शन दोनों अव्यभिचरित हैं और दर्शन के बिना चारित्र प्राप्ति का संभव भी भूँसे की ढेरीकी तरह व्यर्थ है।

(२) द्वितीय दर्शनकार जो गुणातीत वस्तुज्ञान को ही मोक्ष का मार्ग बतलाते हैं यह बात थोड़ी देर तक विचारने योग्य है। देखिये गुण तीन हैं १ सत्त्वगुण २ रजोगुण ३ तमोगुण और जिनको हमारे जैन लोग पौद्गलिक सुख, दुःख और मोह के नाम से व्यवहार करते हैं। यहाँपर विचार करने का स्थान तो यही है कि गुणातीत कौन है? सर्वदर्शी परमात्मा-उसका यथार्थ ज्ञान यही मोक्ष है। इस प्रकारके कथन करने वालों ने भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र को स्वीकार किया है। यह बात सुस्पष्ट है। ज्ञान श्रद्धा अव्यभिचरित होता है। जहाँ ज्ञानश्रद्धा है वहाँ चारित्र की प्राप्ति आसानीसे हो जाती है। अतएव मूलस्थान पर इस मतवाले भी आकर खड़े रहेंगे।

(३) अब तीसरी कोटि जो साकार का नाश और निराकार की शून्यता इन दोनों पक्षोंसे अलग वस्तु के ज्ञान होने को मोक्ष बतलाती है उस सिद्धान्त का रहस्य में अन्वेषण करके आपको बतलाता हूँ। आपलोग

समझते होंगे कि इस सिद्धान्त को मानने वाले किस वर्ग के लोग हैं परन्तु इस दिखलाने का कार्य मेरे शिर पर नहीं है; क्योंकि खण्डन मण्डन की प्रणाली मुझको पसन्द नहीं है। मेरा उद्देश्य केवल यही दिखलानेका है कि सब दर्शनों के अनुयायी १ ज्ञान २ दर्शन और ३ चारित्र का तो अवश्यही स्वीकार करते हैं। कदाचित् क्षयोपशम की विचित्रता से किंवा अन्यही किसी कारण से कोई कपोलकल्पित अर्थ करे तो उससे मुझे कोई हानि नहीं है, पर माननेवाले और मनानेवाले को जो हानि पहुँचेगी वह अनिवार्य है। जड़-साकार वस्तुका नाश और जड़ निराकार वस्तु की शून्यता रहित वस्तु का ज्ञान सो ठीक है। जड़ साकार वस्तु घटपटादि है, जड निराकार वस्तु आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, इत्यादि। अब प्रश्न उठता है कि-इन सब वस्तुओं से भिन्न कौन है? इसका उत्तर यह है कि सर्वज्ञ वीतराग भगवान् और उसका यथार्थ ज्ञान यही मोक्ष। और ज्ञानके साथ श्रद्धा का संबन्ध एवं चारित्रकी अनायास प्राप्ति में पहिलेही बतला चुका हूं अतएव उसके सम्बन्ध में कुछ कहनेकी जरूरत नहीं है।

अब मैं चौथे पक्ष की समीक्षा में प्रवृत्त होता हूँ—

(४) चतुर्थ पक्ष कहता है कि एक देशिक सिद्धान्त में दिखलाया हुआ मुक्तिका विधान वही मोक्ष कहलाता है। देखिये उसका तात्पर्य इतना ही मात्र है कि एकदेशनिष्ठ सिद्धान्तकथित मोक्ष है उसकी साधना अर्थात् धारणा तथा तत्संबन्धिनी चिन्ता ही मोक्ष कहलाती है। मालूम होता है कि यह पक्ष भी यथास्थित वस्तुस्वरूप

के ज्ञान को ही मुक्ति कहता है। यह बात उक्त कथन से सिद्ध होती है। जहां उसप्रकारका ज्ञान है वहां अवश्यही श्रद्धा किंवा दर्शन रहता है और ज्ञान-दर्शनवालेको चारित्र आसानीसे प्राप्त होता है। और जहां वे तीनों ही हैं वहां तो मोक्ष अर्थसिद्ध ही है। अब मैं पञ्चम पक्ष का अनुसन्धान करना आरम्भ करता हूं।

(५) पञ्चमपक्षीय महाशयों का यह मत है कि सकल आगम के विचार में रहाहुआ व्यापक जो विचार है उसी की साधना का नाम मोक्ष है। पाठकवर्ग! कथन तो ठीक है। जहां तत्वज्ञान में मोक्ष की बुद्धि है वहां विशेष झगडे का अवकाश नहीं रहता है। किन्तु वास्तविक तत्वज्ञान किसको कहना चाहिये? यह प्रश्न तो बना ही रहता है। मैं इस प्रश्न का संक्षेप में निराकरण करता हूं। देखिए तत्वका यथार्थ अर्थ स्वरूप है, इसलिये तत्वज्ञानका अर्थ हुआ-स्वरूपका ज्ञान। यदि ऐसा प्रश्न उठे कि किसका स्वरूप? तो उसका उत्तर यही है कि पदार्थका। पदार्थ कितने हैं? इसके सम्बन्ध में मेरा वक्तव्य बहुत है। किन्तु साधारणतः दोही पदार्थों में सन्तोष मान लेता हूं, वे दो पदार्थ जीव और अजीव हैं। बस इन्हीं दोनों में सब पदार्थों का समावेश किया जाय तो हो सकता है। अब छठें पक्षकी समालोचना पर आता हूँ-

(६) छठें पक्षकी कोटी यह है कि मनरूपी पवन में ध्यानका धारण करना उसीका नाम मोक्ष है। इसी बात को मैं शब्दान्तर में यों कह सकता हूं कि रागद्वेषरूपी पिशाचों के पञ्जों से दूर रहकर शुद्धस्वरूप सिद्ध-

पुरुषों को ध्यानद्वारा स्वगोचर करना– तद्रूप होना तथा अभेदज्ञान पैदा करना। ध्यानी मनुष्य ध्यान को स्वीकार करते हैं और उसे ही मोक्षका मार्ग मानते हैं। ऐसे मतवाले भी प्रकारान्तर से दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी अगत्यता को पूरा २ मान देते हैं। यह बात सुस्पष्ट है। अब पाठकों को सप्तम पक्षकी समीक्षा करके दिखलाता हूँ।

(७) सप्तम पक्ष कहता है कि 'महावाक्यविवरणे मोक्षः' यहांपर महावाक्य वे लोग किसको कहते हैं, और उसमें वे लोग कहां तक भ्रान्त हैं यह मैं आप लोगों को आगे चलकर बतलाऊँगा, किन्तु यहां पर इतनाही कहता हूँ कि सप्तमपक्षवाले इस बातको पूर्णरीतिसे स्वीकार करते हैं कि महावाक्य के विवरण में मोक्षमार्ग है। इस प्रकार महावाक्य के विवरण में मोक्ष के माननेवाला समूह प्रकारान्तर से मूलमार्ग की सीढ़ी पर किस प्रकार आरोहण करता है सो देखना चाहिये। उनलोगों के मतानुसार उनका महावाक्य "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस तरह है। इसी महावाक्य को समझने का नाम मोक्ष प्रमाणित करते हैं। पूर्वोक्त महावाक्य में 'सत्यं,' 'ज्ञानं,' 'अनन्तम,' 'ब्रह्म' ये चार शब्द सुस्पष्ट हैं और बड़े रहस्य को सूचित करते हैं। पृथक् २ अर्थ किया जाय तो 'सत्यं' का अर्थ अविनाशी, ज्ञानं का अर्थ ज्ञानस्वरूप, अनन्तं का अर्थ अखण्ड और ब्रह्म का अर्थ परिपूर्ण होता है। अब उन सब अर्थों को मिला दीजिये तो "अविनाशी, ज्ञानस्वरूप, अखण्ड और परिपूर्ण वस्तु के ज्ञान से मोक्ष होता है" ऐसी ध्वनी अवश्य निकलेगी। संक्षेपतः, अविनाशी, ज्ञानस्वरूप यदि कोई वस्तु तो

परमात्मा ही है। परमात्मा संबन्धी सम्यग्ज्ञान, यही सम्यग्-दर्शन है और जब सम्यग्दर्शन और सम्यग-ज्ञान की स्थिति निर्विवाद सिद्ध होती है तब तो चारित्र के लिये विशेष युक्ति प्रयुक्ति देने का कोई काम नहीं है। अब अष्टम पक्षका दिग्दर्शन कराता हूँ।

प्रियपाठको! अष्टम पक्षवाला कहता है कि "दृष्टा-दृष्टोभयज्ञानाभावो हि मोक्षः" निष्पक्षपात रीति से अब मुझे कहनेका अवसर दिजीये कि पूर्वोक्त सूत्रके ऊपर विश्वास रखनेवालों की अर्थपद्धति और विचारशृङ्खला में सत्याभास का थोड़ा ही दर्शन होता है। सूत्रकारने दृष्ट और अदृष्ट दोनों ज्ञान के अभावको मोक्ष मान लिया, किन्तु ऐसे मानने में स्वयं मोक्ष ही शून्यरूप बन गया। इसका तो ज्ञान ही नहीं रहा। ऐसे माननेवालों को यदि शून्यवादी कहा जाय तो भी कोई हानि नहीं मालूम पड़ती है। उभयज्ञान के अभाव को मोक्ष माननेवाले पक्ष से मेरा केवल एक ही प्रश्न है कि-मोक्षावस्था में जब ज्ञान मानने में नहीं आवेगा तब अन्य किस वस्तु का अवकाश मानोगे? इसका उत्तर प्रायः यही मिलेगा कि 'कुछ नहीं'। बस! इन्हीं शब्दों से प्रकट होता है कि तब तो मोक्ष भी कोई वस्तु नहीं है। किन्तु, नहीं, मोक्ष है। वैसा तो वे लोग स्वीकार करते हैं। ऐसी अवस्था में मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ कि पूर्वोक्त सूत्रका अर्थ करने में वे लोग कितनी भूल करते हैं सो दिखलाने का प्रयत्न करूँ। सूत्रका अर्थ इस प्रकार करने से मोक्षमार्ग निर्विवाद सिद्ध होगा। सुनिये-दृष्टका अर्थ सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष, और अदृष्ट याने परोक्ष; दोनो

प्रकार के ज्ञान का अभाव यही मोक्ष है। अब तो यह निश्चय है कि इस प्रकार के ज्ञान का प्रयोजन केवलज्ञानियों की स्थिति में नहीं होता है, क्योंकि ज्ञानी ही केवल मोक्षगामी हैं यह तो निःसंशय है। जब तक केवलज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती है तबतक छद्मस्थभाव रहता है। छद्मस्थभावमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और परोक्ष-उभय ज्ञानकी विशेष आवश्यकता है। उन दोनों प्रकार के ज्ञानके निश्चय को सम्यक्त्व कहते हैं। सम्यक्त्वके साथ सम्यग्ज्ञान अव्यभिचरित होता है। और सम्यग्ज्ञानके साथ चारित्र का घनिष्ट संबन्ध है, यह मैं पहिले ही निर्णीत कर चुका हूँ। बस अब यहाँपर ऐसे निर्णयपर आने में कोई दोष नहीं मालूम होता कि दृष्टादृष्टोभयज्ञानाभावको मोक्ष माननेवाले वादी लोगोंने अपनी अज्ञानदशामें भी सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप मोक्षमार्गका स्वीकार तो अवश्यही किया है।

पाठको ! इन पूर्वोक्त आठ पक्षों की समालोचना करने में मैंने आप लोगों को बहुत उलझा रक्खा, अभी और बहुत कुछ लिखना शेष है। आप लोग इन आठों पक्षों की समालोचना से अवश्य समझ गये होंगे कि सब पक्षवाले इधर उधर जाकर भी अन्त में " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " इस महान् वाक्य पर आकर खडे होते हैं अत एव मैंने शेष पक्षवालों की समालोचना करनी छोड दी है।

अब मोक्षमार्ग में जैसा विवाद है वैसाही मोक्ष के स्वरूप में भी विभिन्न मत हैं। मोक्ष के अस्तित्व में किसी आस्तिक को विवाद नहीं है। मार्ग के भिन्न-

भिन्न भेदों को तो मैंने दिखलाया अब मैं मोक्ष के स्वरूप दिखलाने की कोशिश करता हूँ।

१ स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावसहवृत्तिदुःखध्वंसो हि मोक्षः। (नैयायिकाः)

भावार्थ—अपने अधिकरण में रहनेवाला और दुःखप्रागभाव के साथ नहीं रहनेवाला ऐसा जो दुःखध्वंस है, उसका नाम मोक्ष है।

अथवा, एकविंशतिदुःखध्वंसो हि मोक्षः।

अथवा, दुःखात्यन्ताभावो हि मोक्षः।

२ परमानन्दमयपरमात्मनि जीवात्मलयो हि मोक्षः। (त्रिदण्डिविशेषाः)

३ अविद्यानिवृत्तौ केवलस्य सुखज्ञानात्मकात्मनोऽवस्थानं मोक्षः। (वेदान्तिनः)

४ पुरुषस्य स्वरूपणावस्थानं मोक्षः। (सांख्याः)

५ अनुप्लवचित्तसंततिर्मोक्षः। (बौद्धाः)

६ वीतरागजन्मादर्शनाद् नित्यनिरतिशयसुखाविर्भावाद् मोक्षः। (भाट्टाः)

७ कृत्स्नकर्मक्षयो हि मोक्षः। (जैनाः)

पाठको! यहांपर अगर मैं विशेष विवेचना करूँगा तो आप लोगों के हृदयादर्श में ऐसा प्रतिभास होगा कि हमलोगों का खण्डन करते हैं और जैनों का मण्डन करते हैं, अत एव ऐसा नहीं करके भव्यजीवों को स्वयं

विचार करने का अनुरोध करता हुआ समस्त कर्मों के नाश में मुक्ति माननेवाले जैनलोग कौन कौन कर्म मानते हैं? उनके नाम, भेद, बन्ध के कारण और नाश के कारण दिखलाऊँगा, तदनन्तर जीव स्वसत्ता को प्राप्त करके कौनसी स्थितिवाला होता है और कहाँ अवस्थान करता है? फिर संसारी होता है या नहीं? इसका स्वरूप बतलाऊँगा; आशा करता हूँ कि आपलोग बराबर ध्यान देकर पढ़ेंगे। मुझे इतना कहने दीजिए कि मैं जो बात कहना चाहता हूँ सो बात वेद, पुराण, स्मृति आदि किसी में नहीं है-केवल जैनतत्ववेत्ताओं ने परोक्ष पदार्थों को केवलज्ञानद्वारा प्रत्यक्ष करके भव्यजीवों के हितार्थ दिखलाये हैं-मैं यहां जो बात कहूँगा सो जैन बालक भी जानता है, अत एव मेरे मन में गहन विषय नहीं है, किन्तु आपलोगों को अपरिचित होने से संकेतितशब्दों को सरल और सीधी रीति से समझाऊँगा।

'क्रियते अनेन इति कर्म' अर्थात् प्रमाद, कषाय, अविरति, योग और मिथ्यात्व इन पांचसे कर्म बांधे जाते हैं-उन कर्मोंके मूल आठ भेद हैं:— ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्कर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और अन्तरायकर्म। ये कर्म संसारीजीव पर होते हैं और इसीसे ही संसार विचित्र मालूम होता है, कर्म की सत्ता हरएकदर्शनकारोंने स्वीकार की है; केवल, नामान्तर (संज्ञान्तर) मात्र भेद है, जैसे कर्म, प्रकृति, प्रारब्ध, संचित, माया, अविद्या और पञ्चस्कन्धादि नामों से व्यवहार करते हैं। कर्म शुभाशुभ हैं और पुण्य पाप का कारण है, पुण्य पाप कर्म का कार्य है। पुण्य पाप

स्वर्ग नरक का कारण है। स्वर्ग नरक पुण्य पाप का कार्य है। मूल आठ प्रकार के कर्मों के दो विभाग किये हुए हैं ? चार घाती, चार अघाती, इनमें से घातीकर्म सर्वथा आत्मसत्ताको दबादेते हैं, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय अन्तराय और मोहनीय ये चार घातीकर्म कहे जाते हैं। इससे भिन्न चार अघाती कहेजाते हैं। पूर्वोक्त चार घाती कर्मों का नाश सर्वथा होता है तब जीवको केवलज्ञान होता है। और तब ही केवली गिना जाता है। जब शरीर को छोड करके जीव मोक्ष में जाता है तब दूसरे अघाती चार कर्म-वेदनीय, आयुष, नाम और गोत्र का नाश होता है उसी तरह आठ कर्मों के नाश होने से जीव मोक्षगामी गिना जाता है। कभी भी जन्म मरणादि दुःखका भागी नहीं होता है, अगर हो तो उसको मोक्षप्राप्ति नहीं मानी जायगी। मोक्षगामी कभी संसारी नहीं होसकता, जैसे दग्ध हुआ बीज कदापि उगता नहीं है वैसेही जिसके कर्मरूप बीज जल गये हैं सो कदापि संसार में नहीं आता, अगर आजाय तो मोक्ष कल्पनारूप ही होजायगा। "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते" अर्थात् प्रयोजन सिवाय मन्द भी प्रवर्त्तमान नहीं होता है, तो मोक्षगामी जीव को कौन प्रयोजन बाकी है कि प्रवर्त्तमान होजाय ? कोई कहेगा कि दया का प्रयोजन है, तो मैं कहता हूं कि दया इच्छाधीन होती है, इच्छा रागाधीन है, और राग द्वेष का सहचारिपना है, तब तो मोक्षमें रागद्वेष होना चाहिये, और यह बात तो किसीको स्वीकार नहीं है। बस इतना प्रसङ्गोपात्त कह करके अब मैं कर्म के कारण बतलाता हूं—

ज्ञान और ज्ञानी पर द्वेष करना, पढानेवाले की निन्दा करनी, ज्ञानके साधनों का नाश करना, ज्ञानी और ज्ञानकी अत्यन्त अवज्ञा करनी, और पढ़नेवालेको विघ्न करनेसे ज्ञानावरणीय कर्मका और इसीतरह दर्शन के प्रति अनिष्ट आचरणादि दोषोंसे दर्शनावरणीयकर्मका बन्ध होता है। दुःख, शोक संताप, आक्रन्दन, वध इत्यादि स्वयं करे अथवा परको करावे तथा उभय को उत्पन्न करे, उससे जीव असातावेदनीयकर्म बांधता है। प्राणीमात्र की दया, अनुकम्पादान, सरागसंयम, देशविरति, बालतप, जोग, क्षान्ति, अन्तःकरणकी पवित्रतारूप शौच, देवपूजा और गुरुसेवा इत्यादि करनेवाला सातावेदनीयकर्म बांधता है। अब मोहनीयकर्म के दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय एवं मुख्य दो भेद हैं। इनके बन्धके कारण अलग अलग बतलाता हूं।

सर्वज्ञसिद्धि तथा देवोंका अपलाप करना, धार्मिकपुरुषों में दोष निकालना, उन्मार्गका उपदेश देना, अव्रती की पूजा करनी, अविचारित कार्य करना, और पूज्यगुर्वादिकों का अपमान इत्यादि करनेवाला दर्शनमोहनीय कर्म बांधता है। क्रोध मान माया लोभादि कषायोंके उदयसे पौद्गलिकभावका तीव्र परिणाम करनेवाला चारित्रमोहनीयकर्म बांधता है। पांचवें आयुषकर्म के चार भेद हैं उसके बन्ध के कारण भिन्न भिन्न हैं सो दिखलाता हूं।

बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह, पञ्चेन्द्रियवध और मांसभोजनादि करनेवाला नरकायुषका बन्ध करता है, कपटभाव और आर्तध्यानादिक करनेवाला तिर्यञ्चायु बांधता है, थोड़ा

आरम्भ और थोड़ा आरंभ और थोड़ा परिग्रह करनेवाला, मृदु तथा सरलस्वभावी जीव मनुष्यायु बांधता है। सरागसंयम, देशविरति असंयमवाला, अकामनिर्जरा करनेवाला, बालतपस्वी देवायु बांधता है। शील तथा व्रतरहित जीव सब आयुष बांधनेका अधिकारी होता है। जैसी बुद्धि होवे वैसा आयुष बांधे। अब छठे नामकर्मके उदय से शरीरादि अवयव शुभाशुभ मिलते हैं। उसके शुभ अशुभ ये दो भेद हैं उसके भी बन्ध कारण भिन्न भिन्न हैं। मन वचन और काया के योग को अशुभ मार्ग में लेजाने से, असत्य बोलने से अशुभ नाम कर्म बांधा जाता है, उससे विपरीत वर्त्तन करने से शुभनामकर्म का बन्ध होता है। अब सातवाँ गोत्रकर्म है। इसके दो भेद हैं (१) उत्तमगोत्र और (२) नीचगोत्र। इसमें प्रथम नीचगोत्र के कारण बताकर फिर उत्तम गोत्र के कारण बताऊँगा। परनिन्दा, आत्मस्तुति, परके सद्गुणों का आच्छादन करदेना, आत्मगुणों का प्रकाश करना, इससे नीचगोत्र बांधा जाता है। और उससे विपरीत वर्त्तनसे उत्तमगोत्रकर्म का बन्ध होता है। अब आठवें अन्तराय कर्म के बन्धन के कारणों की व्याख्या आप लोगों को कर दिखलाता हूँ—

जिस वस्तुका अन्तराय करने में आवे, उस चीजके नहीं मिलनेका कर्मबन्ध होता है। दान, लाभ, [illegible] उपभोग, और वीर्य इन पाँचों [illegible] अन्त में [illegible] लगाने से दानान्तराय, [illegible] [illegible]राय, भोगान्तराय, और [illegible] [illegible] हैं। [illegible] अन्तराय [illegible] [illegible]पात्र

पर भी दान नहीं दिया जाता है। उसी तरह सबमें समझ लेना चाहिए। यहां पर बालजीवों को शङ्का होगी कि-साधुलोग त्यागका उपदेश देकरके जीवोंको भोग और उपभोगादि से दूर करते हैं तो अन्तरायकर्म ज़रूर बांधते होंगे। इसके उत्तरमें समझना चाहिये कि-साधु लोग तुच्छ, विनश्वर, दुःखदायी, भोग, उपभोग का त्याग करा करके, अतुच्छ, अविनश्वर, अनन्तसुखमय, वास्तविक भोगके भागी जीवों को बनाते हैं, जो बलात्कारसे प्राणिओंकी इच्छारहित, विघ्नकर होता है सो ही अन्तरायकर्म बांधता है। मुनिलोग तो अन्तरायकर्म के नाशक होनेसे हजारों जीवों को तुच्छ, विनश्वर, भोगसे मुक्त कराते हुए स्वयम्, अन्तरायादि कर्मोंका अन्त करके केवली होते हैं। 'परिणाम से बन्ध और क्रिया से कर्म' यह वाक्य बराबर विचार करने योग्य है। कर्मबन्ध के कारणों से जीव अलग रहकरके यदि शान्तिपूर्वक अनवद्य तप करे तो पूर्वोक्त अविशिष्ट कर्मों को नष्ट करके मुक्ति नगर का निवासी अवश्य बने, ऐसा शास्त्रकारों का कथन है। कोई आदमी प्रश्न करे कि-तप में अनवद्य विशेषण आपने दिया तो क्या सावद्य तप भी होता है? जवाब में यह कह सकता हूं कि-जिस तप में अन्य जीवों को पीडा हो सो सावद्य तप कहा जाता है। जैसे पञ्चाग्नितप, सेवालभोजनतप, नीरसका रस तथा पर्युषिताम्रभोजन इत्यादिरूप तप है कि जिसमें अनेक निरपराधिजीवों की जान जाती है। इस भांति नहीं करके आत्मकल्याणाभिलाषी जीवों को ग्रीष्म ऋतु में तप्तशिलापर अथवा तपी हुई वालुका में यथा-

आरम्भ और थोड़ा आरंभ और थोड़ा परिग्रह करनेवाला, मृदु तथा सरलस्वभावी जीव मनुष्यायु बांधता है। सरागसंयम, देशविरति अप्रमत्तवाला, अकामनिर्जरा करनेवाला, बालतपस्वी देवायु बांधता है। शील तथा व्रतरहित जीव सब आयुष बांधनेका अधिकारी होता है। जैसी बुद्धि होवे वैसा आयुष बांधे। अब छट्टे नामकर्मके उदय से शरीरादि अवयव शुभाशुभ मिलते हैं। उसके शुभ अशुभ ये दो भेद हैं उसके भी बन्ध कारण भिन्न भिन्न हैं। मन वचन और काया के योग को अशुभ मार्ग में लेजाने से, असत्य बोलने से अशुभ नाम कर्म बांधा जाता है, उससे विपरीत वर्तन करने से शुभनामकर्म का बन्ध होता है। अब सातवाँ गोत्रकर्म है। इसके दो भेद हैं (१) उत्तमगोत्र और (२) नीचगोत्र। इसमें प्रथम नीचगोत्र के कारण बताकर फिर उत्तम गोत्र के कारण बताऊंगा। परनिन्दा, आत्मस्तुति, परके सद्गुणों का आच्छादन करदेना, आत्मगुणों का प्रकाश करना, इनसे नीचगोत्र बांधा जाता है। और उससे विपरीत वर्तनसे उत्तमगोत्रकर्म का बन्ध होता है। अब आठवें अन्तराय कर्म के बन्धन के कारणों की व्याख्या आप लोगों को कर दिखलाता हूं—

जिस वस्तुका अन्तराय करने में आवे, उस चीजके नहीं मिलनेका कर्मबन्ध होता है। दान, लाभ, भोग, उपभोग, और वीर्य इन पाँचों के अन्त में अन्तरायशब्द लगाने से दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, और वीर्यान्तराय कहे जाते हैं। यदि दानका अन्तराय किया हो तो धन और पात्र मिलने

पर भी दान नहीं दिया जाता है। उसी तरह सबमें समझ लेना चाहिए। यहां पर बालजीवों को शङ्का होगी कि-साधुलोग त्यागका उपदेश देकरके जीवोंको भोग और उपभोगादि से दूर करते हैं तो अन्तरायकर्म जरूर बांधते होंगे। इसके उत्तरमें समझना चाहिये कि-साधु लोग तुच्छ, विनश्वर, दुःखदायी, भोग, उपभोग को त्याग करा करके, अतुच्छ, अविनश्वर, अनन्तसुखमय, वास्तविक भोगके भागी जीवों को बनाते हैं, जो बलात्कारसे प्राणिओंकी इच्छारहित, विघ्नकर होता है सो ही अन्तरायकर्म बांधता है। मुनिलोग तो अन्तरायकर्म के नाशक होनेसे हजारों जीवों को तुच्छ, विनश्वर, भोगसे मुक्त कराते हुए स्वयम्, अन्तरायादि कर्मोंका अन्त करके केवली होते हैं। 'परिणाम से बन्ध और क्रिया से कर्म' यह वाक्य बराबर विचार करने योग्य है। कर्मबन्ध के कारणों से जीव अलग रहकरके यदि शान्तिपूर्वक अनवद्य तप करे तो पूर्वोक्त अवशिष्ट कर्मों को नष्ट करके मुक्ति नगर का निवासी अवश्य बने, ऐसा शास्त्रकारों का कथन है। कोई आदमी प्रश्न करे कि-तप में अनवद्य विशेषण आपने दिया तो क्या सावद्य तप भी होता है? जवाब में यह कह सकता हूं कि- जिस तप में अन्य जीवों को पीडा हो सो सावद्य तप कहा जाता है। जैसे पञ्चाग्नितप, सेवालभोजनतप, नीम्बका रस तथा पर्युषितान्नभोजन इत्यादिरूप तप है कि जिसमें अनेक निरपराधिजीवों की जान जाती है। इस भाँति नहीं करके आत्मकल्याणाभिलाषी जीवों को ग्रीष्म ऋतु में तप्तशिलापर अथवा तपी हुई वालुका में यथा-

शक्ति आतापना लेनी चाहिए। हेमन्त ऋतु में वस्त्रों को छोड कर शीत का सहन करना चाहिए। वर्षाकाल में यथाशक्ति आहारपाणी की न्यून करके गमनागमन क्रियाको कम करना, इन्द्रियों का निग्रह, कषायोंका विजय, इत्यादि अनवद्य तप कहा जाता है। और यही तप कर्मोंके नाश करने में समर्थ होता है। सावद्यतप पापमिश्र पुण्य को बढ़ाकरके स्वर्गादिसुख को देता है। किन्तु परिणाम में संसार चक्रसे मुक्त नहीं करता है।

सज्जनमहाशयों! आप मुक्तिमार्ग का स्वरूप और मोक्षका स्वरूप अच्छी तरह से समझगये होंगे, क्योंकि यह बात मैं पहलेही कह चुका हूं। अब मुझे एक बात याद आती है कि मोक्षगामी जीवों में कौन कौन गुण होते हैं? सो संक्षेप में बताकर अन्त में मैं अपना वक्तव्य समाप्त करूंगा।

जैनदर्शन में मोक्षगामिजीवों में आठगुण माने गये हैं। जैनेतरमतवाले वे आठ गुण किस से होते हैं, उसके नाम भी कचित ही जानते होंगे। इस विषय को संक्षेप में समझाने की कोशिश करूं, तो वह अयोग्य नहीं गिना जायगा। उपरोक्त आठ कर्म जिस समय आत्मा पर थे तब हरएक कर्म ने ज्ञानादिगुणों को दबादिये थे। जब इन कर्मों का समूल नाश हो गया, तब वे गुण भी प्रगट हो जाते हैं। जैसे ज्ञानावरणीयकर्म का नाश होने से केवलज्ञान प्रगट होता है। उससे सिद्धावस्था में भी स्वगुण का भोक्ता बनते अनन्तज्ञानवान् सिद्ध गिने जाते हैं। वैसे ही दर्शनावरणीयकर्मका नाश होने से अनन्तदर्शनवाले

सिद्ध माने जाते हैं। वेदनीयकर्मका नाश होनेसे वास्तविक अनन्तसुख के भोक्ता होते हैं। मोहनीयकर्मके नाश से अनन्तचारित्रवान् सिद्ध गिनेजाते हैं, आयुषकर्म के नाश से अक्षयस्थितिक सिद्ध होते हैं। अन्तरायकर्म के क्षयसे अनन्तवीर्यवान् सिद्ध हैं, नाम और गोत्रकर्म के नाश होने से अमूर्त और अनन्तावगाहनवाले सिद्ध होते हैं। एवं आठगुणों में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, सुखादि गुण, मोक्ष में जैन लोग मानते हैं, नैयायिक और वैशेषिकदर्शनवालोंने ईश्वर में ज्ञान, कृति, इच्छादि आठगुण माने हैं; किन्तु मोक्षगामी जीव में ज्ञान सुखादि नहीं माने हैं। केवल दुःखात्यन्ताभाव ही माना है। सांख्य में भी मोक्ष में ज्ञान नहीं माना है। ज्ञान प्रकृति का गुण है, प्रकृति के अभाव में मोक्ष माना है। वेदान्तमतवालों ने मोक्षावस्था में ज्ञान सुख माने हैं। भट्टमतवाले ने भी मोक्षावस्था में सुख माना है। बस संक्षेप में इतनीही समीक्षा करके कहता हूं कि 'न्यायालोक' नामक ग्रन्थ में महामहोपाध्याय श्रीमद्यशोविजय महाराजने नवीन पद्धति के अनुसार मोक्ष के विषय में संक्षेपमें भी बहुत अच्छी रीति से विवेचन किया है, तदुपरान्त सम्मतितर्क, रत्नाकरावतारिका, अनेकान्तजयपताकादि ग्रन्थों में मुक्तिका स्वरूप दिखलाया हुआ है वहां से हमारे जिज्ञासु महाशयों को देखलेना चाहिये।

प्रसङ्गानुसार यह कथन करने की आवश्यकता है कि जैनधर्मके स्वरूपके नहीं जानने से नई नई कल्पनाओं को करके अयुक्त असद्भूत कलङ्क देकर भद्रिकप्राणियों को सन्मार्ग से तथा सत्योपदेशसे वञ्चित रखते हैं, इसलिये

पुनः मैं पाठकमहोदयोंसे कहता हूं कि जैन उपदेशकों का उपदेश आपलोग वारंवार सुनिये, जैनधर्मके शास्त्रों को देखिये। यदि गुण मालूम हो तो स्वीकार करिये, गुण न मालूम हो तो छोडदेना। बस इतनाही कहकर अब मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूं।